विवेक-ज्योति

वर्ष ४०, अंक १०   अक्तूबर २००२   मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़)

RECENTLY RELEASED

Sri Sri Ramakrishna Kathamrita

VOLUME I

in English

A word for word translation of original Bengali edition. Available as hardbound copy at subsidized price, **for Rs. 150.00 each.**

Also available:

HINDI SECTION

- **Sri Sri Ramakrishna Kathamrita** Vol. I to V Rs. 275 per set

  M. (Mahendra Nath Gupta), a son of the Lord and disciple, elaborated his diaries in five parts of 'Sri Sri Ramakrishna Kathamrita' in Bengali which were first published at Kathamrita Bhawan, Calcutta in the years 1902, 1905, 1908, 1910 and 1932 respectively. These are word for word translation in Hindi of the same.

- **Sri Ma Darshan** Vol. I to XVI Rs. 825 per set

  In this series of 16 volumes the reader is brought in close touch with the life and teachings of Sri Ramakrishna family: Thakur, Swamiji, Holy Mother, M., Swami Shivananda, Swami Abhedananda and others. And there is the elucidation according to Sri Ramakrishna's line of thought, of the Upanishads, the Gita, the Bible, the Holy Quran and other scriptures. The third speciality of this work is the ***commentary on the Gospel of Sri Ramakrishna by the author himself.***

ENGLISH SECTION

- M., the Apostle & the Evangelist Vol. I to X Rs. 900.00 per set
  (English version of Sri Ma Darshan)
- Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Centenary Memorial Rs. 100.00
- Life of M. and Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Rs. 150.00
- A Short Life of M. Rs. 25.00

For enquiries please contact:

SRI MA TRUST
Sri Ramakrishna Sri Ma Prakashan Trust
579, Sector 18-B, Chandigarh - 160 018 India
Phone: 91-172-77 44 60
email: SriMaTrust@bigfoot.com

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अक्तूबर २००२

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४०
अंक १०

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर
(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस सयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

नीति-शतकम्

एको देवः केशवो वा शिवो वा
　　ह्येकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा ।
एको वासः पत्तने वा वने वा
　　ह्येका भार्या सुन्दरी वा दरी वा ॥६९॥

अन्वयः – केशवः वा शिवः वा एकः देवः, भूपतिः वा यतिः वा एकं मित्रम्, पत्तने वा वने वा एकः वासः, सुन्दरी वा दरी वा एका हि भार्या ।

भावार्थ – इष्टदेवता एक हों चाहे विष्णु हों या शिव; मित्र एक हो, चाहे राजा हो या त्यागी; निवास एक हो, चाहे नगर में हो या वन में; जीवनसंगिनी एक हो, चाहे वह सुन्दरी हो या पर्वत की कन्दरा।

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान् गुणान् ख्यापयन्तः
स्वार्थान् सम्पादयन्तो विततपृथुतरारम्भयत्नाः परार्थे ।
क्षान्त्यैवाऽऽक्षेपरुक्षाक्षरमुखरमुखान् दुर्जनान् दूषयन्तः
सन्तः साश्चर्यचर्या जगति बहुमताः कस्य नाभ्यर्चनीयाः ॥७०॥

अन्वयः – नम्रत्वेन उन्नमन्तः पर-गुण-कथनैः स्वान् गुणान् ख्यापयन्तः, परार्थे वितत-पृथुतरारम्भ-यत्नाः स्वार्थान् सम्पादयन्तः, आक्षेप-रुक्ष-अक्षर-मुखर-मुखान् दुर्जनान् क्षान्त्या एव दूषयन्तः, स-आश्चर्य-चर्याः बहुमताः सन्तः जगति कस्य न अभ्यर्चनीयाः?

भावार्थ – विनम्रता के द्वारा ही उन्नत होनेवाले, दूसरों की प्रशंसा के द्वारा ही अपने गुणों को व्यक्त करनेवाले, दूसरों के लिये बृहत् कार्यों में संलग्न होकर उसी को अपना स्वार्थ माननेवाले, निन्दा के रुक्ष शब्दों से मुखर दुर्जनों को क्षमा के द्वारा तिरस्कार करनेवाले, अद्भुत आचरणवाले सज्जन पुरुष जगत् में सम्मानित होकर भला किसके पूज्य नहीं होते? अर्थात् सबके पूज्य होते हैं।

– भर्तृहरि

मातृ-वन्दना

– १ –

माँ अब तो आलोक दिखाओ,
मेरी दीन दशा को देखो,
करुणा कर अन्तर में आओ ।।

सदय विराजो हृदि शतदल पर,
रूप दिखाओ अभय-वराकर,
स्नेहदृष्टि से मम जीवन की,
आशा तृषा मिटाओ ।।

चारु चरण में पहने नूपुर,
नृत्य करो निज मोहक सुमधुर,
मेरे तन-मन-प्राण भुलाकर,
पंचम सुर में गाओ ।।

– २ –

तुम्हारा पुत्र हूँ जननी,
सदा इसका स्मरण रखना,
विपथगामी न हो जाऊँ,
सतत मुझ पर नजर रखना ।।

जरा-सा कुछ जगत में पा,
बहुत अभिमान में फूला,
खिलौनों में ही तन्मय हो,
तुम्हें पूरी तरह भूला;
मुझे अब यह सकल तजकर,
तुम्हारा स्नेहरस चखना ।।

कहीं मैं धूल-कीचड़ में,
लिपट पंकिल न हो जाऊँ,
सदा सान्निध्य में अपने,
तुम्हें चिरकाल ही पाऊँ;
मुझे फिर साफ-सुथराकर,
हृदय से ही लगा रखना ।।

– विदेह

भारत और उसकी अवनति

स्वामी विवेकानन्द

संसार हमारे देश का अत्यन्त ऋणी है। यदि विभिन्न देशों की आपसी तुलना की जाय तो ज्ञात होगा कि सारा विश्व इस सहिष्णु एवं निरीह भारत का जितना ऋणी है, उतना अन्य किसी भी देश का नहीं।

जिनकी आँखें खुली हुई हैं, जो पाश्चात्य जगत् के विभिन्न राष्ट्रों के मनोभावों को समझते हैं, जो विचारशील हैं तथा जिन्होंने विभिन्न राष्ट्रों के बारे में विशेष रूप से अध्ययन किया है, वे देख सकेंगे कि भारतीय चिन्तन के इस धीर तथा सतत प्रवाह के सहारे संसार के भावों, व्यवहारों, पद्धतियों और साहित्य में कितना बड़ा परिवर्तन हो रहा है।

प्रत्येक जाति का किसी-न-किसी ओर विशेष झुकाव हुआ करता है। मानो हर जाति का एक एक विशेष जीवनोद्देश्य होता है। हर जाति को पूरी मानव-जाति के जीवन को सर्वांग पूर्ण बनाने के लिये किसी व्रत-विशेष का पालन करना होता है। राजनीतिक श्रेष्ठता या सामरिक शक्ति प्राप्त करना किसी काल में हमारे राष्ट्र का जीवनोद्देश्य न कभी रहा है और न कभी आगे होगा। हाँ, हमारा दूसरा ही जीवनोद्देश्य रहा है और वह यह है कि समग्र जाति की आध्यात्मिक शक्ति को मानो किसी डाइनेमो में संग्रहित, संरक्षित तथा नियोजित किया गया है और कभी मौका आने पर वह संचित शक्ति सारी पृथ्वी को एक बाढ़ में बहा देगी।

समस्त मानवीय प्रगति आध्यात्मिक आलोक ही भारत का योगदान है। धर्मों के इतिहास पर शोध करने से हमें ज्ञात होता है कि उत्तम आचार-शास्त्र से युक्त कोई भी ऐसा देश नहीं है जिसने उसका कुछ-न-कुछ अंश हमसे न लिया हो और आत्मा के अमरत्व के ज्ञान से युक्त कोई भी ऐसा धर्म नहीं है जिसने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से वह हमसे ग्रहण न किया हो।

राजनीति-विषयक विद्या का विस्तार रणभेरियों और सुसज्जित सेनाओं के बल पर किया जा सकता है। लौकिक एवं समाज-विषयक विद्या का विस्तार आग और तलवारों के बल पर हो सकता है। पर आध्यात्मिक विद्या का प्रचार तो शान्ति द्वारा ही सम्भव है। जिस प्रकार दृष्टि तथा कानों के अगोचर रहकर भी मृदु ओस-बिन्दु गुलाब की कलियों को विकसित कर देता है, वैसा ही आध्यात्मिक ज्ञान के विस्तार के विषय में भी समझो। यही एक दान है, जो भारत दुनिया को बारम्बार देता रहा है।

ज्योंही किसी दिग्विजयी जाति ने उठकर संसार के विभिन्न देशों को जोड़ दिया और आपस में यातायात तथा संचार की सुविधा कर दी, त्योंही भारत उठा और उसने संसार की समग्र उन्नति में अपने आध्यात्मिक ज्ञान का भाग भी योग कर दिया।

भारतीय विचार का सबसे बड़ा लक्षण है, उसका शान्त स्वभाव और उसकी नीरवता। जो प्रभूत शक्ति इसके पीछे है, उसकी अभिव्यक्ति कभी जोर-जबरदस्ती में नहीं होती।

मेरी चुनौती है, कोई भी भारत के राष्ट्रीय जीवन का कोई भी ऐसा काल मुझे दिखा दे, जब यहाँ सारे संसार को हिला देने की क्षमतावाले आध्यात्मिक महापुरुषों का अभाव रहा हो।

हमारी इस मातृभूमि में इस समय भी धर्म तथा अध्यात्मविद्या का जो स्रोत बहता है, उसकी बाढ़ सारे जग को डुबाते हुए; राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं एवं नये सामाजिक संगठन की चेष्टाओं में प्राय: समाप्त-प्राय, अर्धमृत तथा पतनोन्मुखी पाश्चात्य एवं दूसरी जातियों में नवजीवन का संचार करेगी।

क्या भारत मर जायेगा? तब तो दुनिया में सारी आध्यात्मिकता समूल नष्ट हो जायेगी, नीति के सारे महत् आदर्शों का नाश हो जायेगा, धर्म के प्रति सारी मधुर सहानुभूति चली जायेगी; सारा आदर्शवाद लुप्त हो जायेगा और उसकी जगह कामरूपी देव एवं विलासिता रूपी देवी राज्य करेगी। धन उनका पुरोहित होगा। धोखाधड़ी, बाहुबल तथा प्रतिद्वन्द्विता ही उनकी पूजा-पद्धति और मानवात्मा उनकी बलिसामग्री होगी। ऐसी दुर्घटना कदापि नही हो सकती। क्रियाशक्ति की तुलना में सहनशक्ति अनन्तगुना महान् है। घृणा की अपेक्षा प्रेम अनन्तगुना शक्तिमान है।

सम्भव है यहाँ ऐसे लोग हों, जिनका मस्तिष्क पश्चिमी विलासिता के आदर्शों से विकृत हो गया हो; यहाँ ऐसे लाखों लोग हों, जो विलास-मद में चूर हो रहे हों, जो पश्चिम के शाप – इन्द्रिय-परतंत्रता रूपी संसार के शाप में डूबे हों; पर इसके बावजूद हमारी मातृभूमि में हजारों ऐसे भी होंगे, जिनके लिये धर्म ही परम सत्य है और जो जरूरत पड़ने पर बिना परिणाम की चिन्ता किये सदा अपना सर्वस्व त्यागने को तत्पर रहेंगे।

मानव-जाति का आध्यात्मीकरण – यही भारतीय जीवन-कार्य का मूल विषय रहा है, उसके शाश्वत संगीत का ध्रुवपद रहा है, उसके अस्तित्व का मेरुदण्ड रहा है, उसके जीवन की नींव रहा है एवं उसके अस्तित्व का एकमेव हेतु रहा है। भारत पर चाहे तातारों का शासन रहा हो या तुर्कों का, चाहे मुगलों ने राज्य किया हो या अंग्रेजों ने; पर वह अपने इस सुदीर्घ जीवन-प्रवाह में कभी अपने इस मार्ग से विचलित नही हुआ।

हमारी कार्यविधि बड़ी आसानी से समझायी जा सकती है। वह केवल राष्ट्रीय जीवन को पुन: स्थापित करना है। भारत के राष्ट्रीय आदर्श हैं – त्याग और सेवा। आप इसकी इन धाराओं में तीव्रता पैदा कीजिए और बाकी सब स्वयं ठीक हो जायेगा। इस देश में आध्यात्मिकता का झंडा कितना भी ऊँचा उठाया जाय, वह पर्याप्त नहीं होता। इसी में भारत का उद्धार है।

हमारा पवित्र भारतवर्ष धर्म एवं दर्शन की पुण्यभूमि है। यहीं बड़े बड़े महात्माओं तथा ऋषियों का जन्म हुआ है; यही संन्यास एवं त्याग की भूमि है और यहीं, केवल यहीं, आदि-काल से लेकर आज तक मनुष्य के लिये जीवन के सर्वोच्च आदर्श का द्वार खुला हुआ है।

यह देश दर्शन, धर्म, आचार-शास्त्र, मधुरता, कोमलता व प्रेम की जन्मभूमि है। मै दृढ़ता के साथ कहता हूँ कि इस दृष्टि से भारत पृथ्वी के अन्य भागों की अपेक्षा अब भी श्रेष्ठ है।

भारत के अवनति के कारण

हमारी दृष्टि में भारत के सामने कई आपदाएँ खड़ी हैं। इनमें से एक ओर हमें घोर भौतिकवाद के पर्वत और दूसरी ओर इसकी प्रतिक्रिया से पैदा हुए घोर अन्धविश्वास रूपी खाई से अवश्य बचना चाहिये। आज हमें एक तरफ वह व्यक्ति दीख पड़ता है, जो पाश्चात्य ज्ञान रूपी मदिरापान से मत्त होकर अपने को सर्वज्ञ मानता है; वह प्राचीन ऋषियों की हँसी उड़ाता रहता है। उसके लिये हिन्दुओं के सब विचार बिल्कुल वाहियात चीज है, हिन्दू दर्शनशास्त्र बच्चों का कलरव मात्र है और हिन्दू धर्म मात्र मूर्खों का अन्धविश्वास है। दूसरी ओर वह व्यक्ति है, जो शिक्षित तो हैं, पर जिस पर एक तरह की सनक सवार है और वह उल्टी राह लेकर हर छोटी-मोटी बात का अलौकिक अर्थ निकालने की चेष्टा करता है; अपनी विशेष जाति या देव-देवियों या गाँव से सम्बन्ध रखनेवाले जितने अन्धविश्वास हैं, उनको उचित सिद्ध करने के लिए दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा बच्चों को सुहानेवाले न जाने क्या क्या अर्थ उसके पास सर्वदा विद्यमान है। उसके लिए हर ग्राम्य अन्धविश्वास वेदों की आज्ञा है और उसकी समझ में उसे कार्यरूप में परिणत करने पर ही राष्ट्रीय जीवन निर्भर है। तुम्हें इन सबसे बचना होगा।

पहले रोटी और तब धर्म चाहिए। गरीब बेचारे भूखों मर रहे हैं और हम उन्हें जरूरत से ज्यादा धर्मोपदेश दे रहे हैं। मत-मतान्तरों से पेट नहीं भरता। हमारे दो दोष बड़े ही प्रबल हैं – पहला है हमारी दुर्बलता और दूसरा है घृणा करना, हमारी हृदयहीनता। तुम लाखों मत-मतान्तरों की बात कह सकते हो, करोड़ों सम्प्रदाय संगठित कर सकते हो, परन्तु जब तक उनके दु:ख का अपने हृदय में अनुभव नहीं करते, वैदिक उपदेशों के अनुसार जब तक उन्हें अपने स्वयं के शरीर का अंश नहीं समझते, जब तक तुम और वे – धनी और गरीब, साधु और असाधु सभी उसी एक अनन्त पूर्ण ब्रह्म के अंश नहीं हो जाते, तब तक कुछ नही होगा।

मैं समझता हूँ कि हमारा सबसे बड़ा राष्ट्रीय पाप आम जनता की उपेक्षा है और वह भी हमारे पतन का एक कारण है। हम कितनी ही राजनीति करें, पर उससे तब तक कोई लाभ नही होगा, जब तक कि भारत की आम जनता एक बार फिर सुशिक्षित और सुपालित नहीं हो जाती।

यदि तुम लोगों को पीसोगे, तो तुम्हें भी भुगताना पड़ेगा। भारत में हम लोग ईश्वर का प्रतिशोध भोग रहे हैं। इन चीजो को देखो। उन लोगो ने अपने निजी लाभ के लिये गरीबो को पीसा, उन्होंने उनका आर्तनाद नहीं सुना; जब जनता रोटी के लिये पुकार रही थी, तब वे सोने और चाँदी के पात्रो मे खाते थे और उसके बाद ही मुसलमानों ने वध और हत्या करते हुए आक्रमण किया। वध और हत्या करते हुए उन्हे पराभूत कर दिया। वर्षो तक भारत बार बार पराजित होता रहा और सबके अन्त में और सबसे बुरे, अंग्रेज आये। तुम भारत मे देखो, हिन्दुओं ने क्या छोड़ा? चारों आश्चर्यजनक मन्दिर। मुसलमानो ने क्या छोड़ा? भव्य भवन। अंग्रेजों ने क्या छोड़ा? शराब की टूटी बोतलों के टीले के अतिरिक्त और कुछ नही। ईश्वर ने मेरे देशवासियों के ऊपर दया नहीं की, क्योंकि स्वयं उनमे दया नहीं थी। अपनी निष्ठुरता से उन्होने जनता को नीचे गिराया और जब उन्हें उनकी जरूरत पड़ी, तब उस जनता में उनकी सहायता करने को कुछ बचा ही नहीं था। मनुष्य को ईश्वर के प्रतिशोध मे भले ही विश्वास न हो सके, किन्तु वह इतिहास के प्रतिशोध को कदापि अस्वीकार नहीं कर सकता।

तोते की भाँति बातें करना हमारा अभ्यास हो गया है, पर आचरण में हम बहुत पिछड़े हुए है। इसका कारण क्या है? शारीरिक दुर्बलता। दुर्बल मस्तिष्क कुछ नही कर सकता, हमको अपने मस्तिष्क को बलवान बनाना होगा।

तुम लोगो मे संगठन की शक्ति का एकदम अभाव है और वही अभाव सब अनर्थो का मूल है। मिल-जुलकर कार्य करने के लिये कोई भी तैयार नही है। संगठन के लिए सबसे पहले आज्ञापालन की आवश्यकता है।

स्वयं कुछ न करना और यदि कोई दूसरा कुछ करना चाहे तो उसका मखौल उड़ाना – यह हमारी जाति का एक महान् दोष है और इसी से हमारी जाति का सर्वनाश हुआ है। उद्यम का अभाव और हृदयहीनता सब दु:खो का मूल है, अत: इन दोनों को त्याग दो। प्रभु ही जानते है कि किसके अन्दर क्या है, अत: सबको मौका मिलना चाहिए। आगे प्रभु की इच्छा।

जो लोग सदैव अपने अतीत की ओर देखते रहते है, आजकल सभी उनकी निन्दा किया करते है। वे कहते है कि इस प्रकार निरन्तर अतीत की ओर देखते रहने के कारण ही

हिन्दू जाति को नाना प्रकार के दु:ख और आपत्तियाँ भोगनी पड़ी हैं। पर मेरी तो यह धारणा है कि इसका उल्टा ही सत्य है। जब तक हिन्दू जाति अपने अतीत को भूली हुई थी, तब तक वह बेहोश-सी पड़ी रही और अतीत की ओर दृष्टि जाते ही चहुँ ओर पुनर्जीवन के लक्षण दीख रहे हैं। भविष्य को इसी अतीत के साँचे में ढालना होगा, अतीत ही भविष्य होगा।

हिन्दू लोग अतीत का जितना ही अध्ययन करेंगे, उनका भविष्य उतना ही उज्ज्वल होगा; और जो कोई इस अतीत के बारे में प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित करने की चेष्टा कर रहा है, वह देश का परम हितकारी है। भारत की अवनति इसलिए नही हुई कि हमारे पूर्वजों के नियम व आचार-व्यवहार खराब थे, अपितु उन नियमों तथा आचार-व्यवहारों को उनकी न्यायसंगत परिणति तक नहीं पहुँचाना ही उसकी अवनति का कारण था।

कोई व्यक्ति या राष्ट्र दूसरों से घृणा करते हुए जी नहीं सकता। भारत के भाग्य का निपटारा तभी हो चुका, जब उसने म्लेच्छ शब्द का आविष्कार किया और दूसरों से नाता तोड़ लिया। वेदान्त की बाते झाड़ना आसान है, पर इसके छोटे-से-छोटे सिद्धान्त को काम में लाना बड़ा कठिन है।

पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो हिन्दू धर्म के समान उच्च स्वर से मानवता के गौरव का उपदेश करता हो और पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं, जो हिन्दू धर्म के समान गरीबों तथा छोटी जातिवालों का गला ऐसी क्रूरता से घोंटता हो, प्रभु ने मुझे दिखा दिया है कि इसमें धर्म का कोई दोष नहीं है, वरन् दोष उनका है, जो ढोंगी और दम्भी हैं, जो 'पारमार्थिक और व्यवहारिक' सिद्धान्तों के रूप में अनेक प्रकार के अत्याचार के अस्त्रों का निर्माण करते हैं।

भारतवर्ष के पतन और अवनति का प्रधान कारण जाति के चारों ओर रीति-रिवाजों की एक दीवार खड़ी कर देना था, जिसकी भित्ति दूसरों की घृणा पर स्थापित थी और जिनका यथार्थ उद्देश्य प्राचीन काल में हिन्दू जाति को आसपास की बौद्ध जातियों के संसर्ग से अलग रखना था।

प्राचीन या नवीन तर्कजाल इसे चाहे जिस तरह ढाँकने का प्रयत्न करे, पर उस सामान्य नैतिक नियम कि कोई भी बिना अपने को अध:पतित किये दूसरों से घृणा नहीं कर सकता – के अनुसार इसका अनिवार्य फल यह हुआ कि जो जाति सभी प्राचीन जातियों में सर्वश्रेष्ठ थी, उसका नाम पृथ्वी की जातियों में एक सामान्य घृणासूचक शब्द-सा हो गया है। हम उस सार्वभौमिक नियम की अवहेलना के परिणाम के प्रत्यक्ष दृष्टान्त-स्वरूप हो गये हैं, जिसका हमारे ही पूर्वजों ने पहले-पहल अविष्कार तथा विवेचन किया था। ❖ (क्रमश:) ❖

अनमोल बोल

* महत्त्व इसका नहीं है कि तुम अपनी यात्रा कहाँ से आरम्भ करते हो, बल्कि इसका है कि तुम जा कहाँ रहे हो।

* बड़े कार्य करना चाहते हो, तो छोटे कार्यों को ही बड़े रूप में करना आरम्भ कर दो।

* हमारा आज का संशय ही आनेवाले कल की परिपूर्ति में बाधाएँ खड़ी करता है।

* जो समस्याएँ आने पर उनका स्वागत करते हैं, वे ही उनका हल अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं।

* साहसिक कार्यों का सौरभ है यश-कीर्ति।

* जो अपने को सुखी नहीं मानता, वह कभी सुखी नहीं हो सकता।

* तुम संकट को आने से रोक नहीं सकते, परन्तु उसके आने पर उसे बैठने के लिए कुर्सी देना या न देना तुम्हारे अपने हाथ मे है।

* भय मानो प्रार्थना का ठीक उल्टा है।

मन की शक्ति

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मनुष्य का मन अनन्त शक्तियों का कोष है। सामान्य रूप से मनुष्य को मन की असीम शक्तियों का बोध नहीं हो पाता। इसका कारण यह है कि मन साधारण स्थिति में अत्यन्त चंचल हुआ करता है। मन की शक्ति का ज्ञान तब होता है जब हम उसे एकाग्र करना चाहते हैं। ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र का प्रत्येक आविष्कार मन की एकाग्रता की स्थिति में ही सम्पन्न हुआ है। इसीलिए जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए मन की एकाग्रता पहली शर्त है। सामान्यतः जब व्यक्ति अपने मन को एकाग्र करने का आरम्भिक प्रयास करता है, तो वह पाता है कि मन पहले की अपेक्षा और अधिक चंचल हो गया है। इससे वह घबराकर ऐसा प्रयास करना ही त्याग देता है। पर यह तो मन की प्रकृति ही है। जब हम मन को एकाग्र करने का प्रयास करते हैं, तब हमें उसके वास्तविक स्वरूप की झलक मिलती है। साधारण तौर पर हमारा मन सतत विचारों के प्रवाह के समान है। कल्पना कीजिए, एक धारा बह रही है। ऊपर से हमें उसकी शक्ति का पता नहीं चलता। पर जब हम उस धारा को बाँधने का प्रयास करते हैं, तब उसकी अकल्पित शक्ति प्रकट होती है। बाँध बह जाते हैं और ऐसा लगता है कि धारा में इतनी ताकत होने की हमने कल्पना नहीं की थी। उसी प्रकार जब हम मन को एकाग्र करते हैं, तो वह मानो मन को बाँधने के समान है और इस प्रयास में मन अधिक क्षुब्ध हो उठता है। लगता है, मानो वह इतना चचल कभी नहीं था।

कल्पना कीजिए, एक सरोवर है जिसका जल निर्मल दीखता है। पर उसके तल में इतना कीचड़ जमा हुआ है कि हम एक ककड़ सरोवर में डालते हैं, तो उतने से ही धीरे-धीरे आसपास का पानी गँदला हो जाता है। मान लीजिए हम इस सरोवर को कीचड़ से साफ करना चाहते हैं। हमने कीचड़ निकालना शुरू किया। पानी गँदला हो जाता है। जैसे जैसे हम कीचड़ निकालते जाते हैं, वैसे-वैसे सरोवर का जल अधिकाधिक मटमैला होता जाता है। यदि हम सोचें कि इससे तो पहले ही अच्छा था जब सरोवर का जल इतना गँदला तो न था, और ऐसा सोचकर कीचड़ निकालना बन्द कर दें, तो धीरे-धीरे सरोवर का जल फिर से निर्मल तो हो जाएगा, पर उसकी निर्मलता का कोई मतलब नहीं होगा, क्योंकि एक छोटा-सा ककड़ उसके तल के कीचड़ को ऊपर कर सकता है। पर यदि हमने जल के गँदले होने की परवाह न कर कीचड़ निकालना जारी रखा, तो एक दिन आयेगा जब सरोवर का सारा कीचड़ साफ हो जायगा और उसके बाद उसके जल को जो निर्मलता प्राप्त होगी, वह यथार्थ की होगी। क्योंकि तब सरोवर में यदि हाथी भी उतर जाये, तो भी जल गँदला नहीं होगा।

हमारा मन भी उसी सरोवर के समान है, जिसके तल में जन्म-जन्मान्तर के गन्दे सस्कार भरे हुए हैं। ऊपर ऊपर से यह निर्मल-सा लगता है, पर एक छोटा-सा दृश्य, एक तनिक-सा विचार हमारे मन के कूड़ा-कर्कट को बाहर प्रकट कर देता है। जब ध्यान आदि साधना के सहारे हम मन की इस संचित गन्दगी को दूर करने का प्रयत्न करते हैं, तो सरोवर के जल के समान मन बडा गन्दा दिखाई पडता है, क्योंकि उसमें बड़े भयानक भयानक विचार उठते रहते हैं। पर हम न डरें। यही समझें कि हम ठीक रास्ते पर हैं। जान लें कि नाली साफ हो रही है। अभ्यास को न त्याग कर, उसको और तीव्र कर दें। धीरे धीरे हम देखेंगे कि हमारा मन पहले की अपेक्षा अब काफी ठीक हो चला है।

ऐसे निर्मल मन को सहज ही एकाग्र किया जा सकता है। एकाग्र मन ठीक उसी प्रकार रहस्यों का भेदन करता है, जैसे शक्तिशाली क्ष-किरणें धातुओं के आवर्त को भेद जाया करती हैं। प्रकृति-राज्य के रहस्य एकाग्र मन के समक्ष सहज ही प्रकट हो जाते हैं। एकाग्र मनवाला व्यक्ति जिस वस्तु पर भी चिन्तन करता है, वह तत्काल उसके समाधान को प्राप्त कर लेता है। ऐसे मन के द्वारा यदि व्यक्ति स्वय अपने अस्तित्व पर विचार करता है, तब उसे स्वय को प्रच्छन्न अनन्त सम्भावनाओं का बोध सहज ही हो जाता है। ❑

अंगद-चरित (४/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'अंगद-चरित' पर कुल १० प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके चौथे प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक हैं। – सं.)

अब चाहे हम यह मान लें कि ईश्वर डरानेवाला है, या यह मान लें कि ईश्वर अभय देनेवाला है। जब उसकी कृपा पर दृष्टि जाती है, उसके स्वभाव पर दृष्टि जाती है, तो यही लगता है कि ईश्वर तो जीव को निर्भय बनानेवाला है और जब जीव ईश्वर की महिमा और अपनी कमियों पर दृष्टि डालता है, तो वह डर के मारे काँपने लगता है।

ऐसी स्थिति में मुख्य बात यह है कि हमारे अन्त:करण में अगर भय से सद्भाव आये या अभय से आये – ये दोनों ही वृत्तियाँ उपयोगी हैं। हनुमानजी ने इन दोनों का ही उपयोग किया। जिस दिन सुग्रीव बालि से डरे हुए थे, हनुमानजी प्रभु को ले आये और सुग्रीव से उनकी मित्रता करा दी। सुग्रीव के सामने भगवान के स्वभाव और करुणा का परिचय दिया कि भगवान कितने उदार हैं! कितने भक्तवत्सल हैं! कैसे भक्ति का निर्वाह करनेवाले हैं! परिणाम यह हुआ कि सुग्रीव का भय कम हो गया। लेकिन पुराने संस्कार सहज ही मिट नहीं पाते, भले ही कुछ समय के लिये दब जायँ। अब संस्कार से भिन्न बात जिस मात्रा में लेनी चाहिए, उस मात्रा में कभी कभी ले लें, तब तो ठीक है। अगर सुग्रीव के मन में यह बात आती कि प्रभु कितने उदार हैं कि उन्होंने मेरे लिये सब कुछ किया, मेरे लिये उन्होंने इतना बड़ा कलंक लिया –

हत्यो बालि सहि गारि।। वि. प., १६६/७

अब ऐसे प्रभु के लिये मेरा क्या कर्तव्य है? यदि यह बात जुड़ जाती तो उसका भय भी सार्थक हो जाता और निर्भयता भी। रामायण में यही सूत्र भगवान शंकर ने पार्वतीजी को दिया। पार्वतीजी ने कहा – आप ईश्वर के स्वभाव का अधिक वर्णन न किया करें। – क्यों? बोलीं – "महाराज, ईश्वर का स्वभाव सुनकर तो लोगों को मनमानी करने की इच्छा होगी। लोग अगर सुन लेंगे कि ईश्वर तो बड़ा उदार हैं, क्षमाशील हैं, वे जीव के अपराध कभी देखते ही नहीं, तो वे यही समझेंगे कि फिर तो हमें सब कुछ करने की छूट है।" इस पर भगवान शंकर ने कहा – पार्वती, भगवान के स्वभाव का वर्णन व्यक्ति को पाप करने की प्रेरणा देने के लिये नहीं है। – तो किसलिए है? शंकरजी ने सूत्र देते हुए कहा – भगवान के स्वभाव का वर्णन करने पर भी भला कितने लोग उनके स्वभाव को जान पाते हैं? बिरले ही कोई जान पाते हैं और जो जान लेते हैं, उसकी कसौटी क्या है? भगवान के स्वभाव को जान लेने पर तो जीव ऐसा कृतज्ञ हो जाता है कि उसे भगवान का भजन छोड़कर कुछ अच्छा ही नहीं लगता –

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना।
ताहि भजनु तजि भाव न आना।। ५/३४/३

गोस्वामीजी प्रभु की कृपा का वर्णन करते हैं, तो अन्त में उसका फल क्या निकालते हैं? विनय-पत्रिका में आप पढ़ेंगे कि भगवान कितने उदार हैं, क्षमाशील हैं, इसका पूरा वर्णन करते हैं और अन्त में वे सम्बोधित किसे करते हैं, सुना किसे रहे हैं?

रामायण के पहले कथावाचक के यहाँ सबसे कम भीड़ थी या उसके अन्तिम कथावाचक के यहाँ? रामकथा के प्रथम वक्ता तो शंकरजी हैं, उनके यहाँ तो कथा सुननेवाले के लिये पात्रता की इतनी कठिन कसौटी थी कि स्वयं शंकरजी के गणों को भी वहाँ आकर कथा सुनने का अधिकार नहीं दिया गया। इतनी अधिक मर्यादा जिस कथा की है, वह समझ लें कि कितनी दुर्लभ थी वह कथा। कथा की इस दुर्लभता का जो स्वरूप है, वह शंकरजी के चरित्र में दिखाई देता है, जहाँ एक ही वक्ता और एक ही श्रोता है। गोस्वामीजी ने जान-बूझकर लिख दिया, उसी पर्वत पर गण भी रहते थे, पर वहाँ गण एक भी नहीं हैं। – क्यों? बोले – नियम तो यह है कि पहले वक्ता के लिये आसन की व्यवस्था की जाती है, लेकिन उस वट-वृक्ष की छाया में जब शंकरजी गये, जहाँ पर बैठकर उन्होंने कथा सुनाई, वहाँ किस गण ने उनका आसन बिछाया? गोस्वामीजी कहते हैं – शंकरजी ने अपने हाथ से बाघछाल बिछाया और उस पर बैठ गये –

निज कर डासि नागरिपु छाला।
बैठे सहजहिं संभु कृपाला।। १/१०६/५

तब पार्वतीजी आती हैं। शंकरजी के पास एक गंगा थी, वे तो प्रगट हो गयीं, पर दूसरी गंगा को शंकरजी प्रगट नहीं कर रहे हैं। एक गंगा शंकरजी की जटाओं में थी, वे लोक-कल्याण के लिये प्रगट हुईं, पर एक गंगा उनके हृदय में थीं, वे कौन-सी गंगा थी? वे हैं भगवत्कथा की गंगा –

पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा।
सकल लोक जग पावनि गंगा।। १/११२/८

ये भी गंगा हैं। एक भगवान शंकर के मस्तक से निकलती हुईं गंगा और एक हृदय से निकलती हुईं गंगा और दोनों गंगाएँ उन्होंने बड़ी कठिनाई से दीं। भागीरथ की तपस्या से प्रसन्न हुए तब मस्तक से गंगा निकलीं, पर कथावाली गंगा को तो ऐसे छिपाकर रख लिया कि किसी को पता ही नहीं कि उनके हृदय में इतनी बड़ी गंगा छिपी हुई हैं। किसी भी लेखक, कवि या वक्ता के मन में यह इच्छा रहती है कि व्यक्ति उसे पढ़े, सुने और उसका आनन्द ले, लेकिन शंकरजी? वे तो ऐसे कवि निकले, जिन्होंने इतने बड़े ग्रन्थ की रचना अपने हृदय में न जाने कब कर ली और हृदय में ही गोपन रखा, बाहर प्रगट ही नहीं किया, किसी को सुना ही नहीं रहे हैं; बस, अपने आप में रख लिया – रचना करके हृदय में रख लिया –

रचि महेस निज मानस राखा ।
पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा ।। १/३५/११

सतीजी बगल में बैठी थीं। पार्वतीजी पूर्वजन्म में सती थीं, पर शंकरजी ने सती से यह कभी नहीं कहा कि मैंने एक दिव्य काव्य की रचना की है, तुम इसे सुन लो। भगवान शंकर इतने कठोर परीक्षक हैं कि कहते हैं – नहीं, सती इसकी अधिकारिणी नहीं हैं, वे सुबुद्धि नहीं हैं। कहते हैं कि कथा में मन, बुद्धि और चित्त लगाना चाहिये और सतीजी की कमी भगवान शंकर जानते थे कि वे बेचारी अहंकार को छोड़ नहीं सकतीं, इसलिए उन्हें सुनाना उचित नहीं है।

तब इस गंगा का प्रादुर्भाव किसके लिये हुआ? यह गंगा की कथा कब प्रगट हुई? जैसे वहाँ भगीरथ ने तप किया, वैसे ही यहाँ सती जब पार्वती हुईं, तब उन्होंने कठोर तप किया। उस कठोर तप के बाद शंकरजी प्रसन्न हो गये। जब पार्वतीजी ने भगवान शंकर से प्रार्थना की – महाराज, आपके हृदय में जो दिव्य गंगा छिपी हुई है, उससे लोकहित भी तो होना चाहिये। तो शंकरजी प्रसन्न हो गये और उन्होंने कहा –

पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा ।
सकल लोक जग पावनि गंगा ।।
तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी ।
कीन्हिहु प्रस्न जगत हित लागी ।। १/११२/७-८

पहले जब वे सती के रूप में थीं, तब तो उन्हें कथा सुनने का अधिकार ही नहीं दिया, पर जब उन्होंने पार्वती के रूप में, श्रद्धा के रूप में प्रश्न किया, तब कथा सुना दी। भगवान शंकर जब कथा सुनाते हैं, तो वहाँ बड़ा कठोर प्रतिबन्ध है। इसको नहीं सुनाना, उसको नहीं सुनाना, किसी को अधिकार ही नहीं देते कथा सुनने का। सती को भी नहीं सुनाया, अपने गणों को भी नहीं सुनाया। वे किसी को भी इस कथा का सुयोग्य पात्र नहीं पाते। ये ही तो वे गण हैं, जो नारद की बानर-आकृति की हँसी उड़ा रहे थे। इन लोगों में उपहास करने की वृत्ति है। भगवान को समझ पाने की पात्रता इनमें भी नहीं है। अधिकारी हैं केवल पार्वतीजी, जो मूर्तिमती श्रद्धा हैं। इसलिए वहाँ पर एक वक्ता और एक ही श्रोता है।

भगवान शंकर प्रथम वक्ता हैं और अन्तिम वक्ता गोस्वामीजी हैं। पर गोस्वामीजी के यहाँ तो और भी अद्‌भुत बात है। वहाँ तो श्रोता कोई है ही नहीं और इसलिए गोस्वामीजी स्वयं को वक्ता ही नहीं मानते। वे कहते हैं – **दास तुलसी गावई** – तुलसी कथा नहीं कहता, वह तो गाता है। गाने का केवल यह अर्थ नहीं कि जो वाद्य-यंत्रों के साथ गाया जाता है। यह नहीं कि वाद्य-यन्त्रों के साथ गाया जाय तो वह गाना है, अन्यथा वह कथा है। जैसे, भगवान राम जब हनुमानजी से मिले, तो उन्होंने कहा था – मैंने अपना चरित्र गाकर सुनाया –

आपन चरित कहा हम गाई । ४/२/४

अब वहाँ पर भगवान के गाने के साथ कोई बाजे तो बज नहीं रहे थे। गोस्वामीजी गानेवाले जान-बूझकर बने। देखिये, कथा के लिये श्रोता अवश्य चाहिये, पर एक गाना ही ऐसा है, जिसके लिये श्रोता मिल जाय तो ठीक, न मिले तो भी ठीक। शायद ही कोई मिलेगा, जो अकेले में भी कुछ गा-गुनगुना न लेता हो। गोस्वामीजी ने कहा – अपने लिये तो यह गाने वाला रास्ता ही ठीक है। – क्यों? बोले – "कथा कहेंगे, तो कोई सुननेवाला होगा तब तो आनन्द आयेगा, पर यदि कोई श्रोता न हो तब?" तब तो कथा ही नहीं होगी। पर यह गायन की वृत्ति इतनी विलक्षण है कि कोई स्नान करते हुए गा रहा है तो कोई अकेले में बैठकर गा रहा है, कोई टहलते हुए गुनगुना रहा है। यह गायन की वृत्ति बड़ी सहज अभिव्यक्ति होती है।

शंकरजी के यहाँ तो कम-से-कम एक श्रोता दिखाई भी पड़ा, पर गोस्वामीजी के यहाँ कोई श्रोता नहीं है, अकेले बैठे हुए गुनगुना रहे हैं। किसी ने पूछ दिया – महाराज, किसे सुना रहे हैं, कोई दिखाई तो नहीं दे रहा है? गोस्वामीजी ने कहा – नहीं भाई, एक श्रोता तो है। – कहाँ है? वे बोले – बाहर नहीं, भीतर है। – तो बाहरवालों को क्यों नही सुनाते? – जिनमें बाहरवालों को सुनाने की योग्यता हो, वे सुनावें, अभी हम अपने आपको ही पूरा नहीं सुना पाये हैं, इसलिए पहले हम उसी को सुना रहे हैं। तुलसीदास से पूछा गया – किसको सुना रहे हैं? बोले – भाई, मैं अपने मन को सुना रहा हूँ। – तब तो महाराज, आपका मन बड़ा ऊँचा होगा, जिसको आप प्रभु की कथा सुना रहे हैं? बोले – नहीं, मेरे मन का एक ही विशेषण है। क्या? – मेरा मन बड़ा दुष्ट है।

सुनहि संतत सठ मना । विनय प., २१५

शंकरजी ने सुना तो आश्चर्य चकित हो गये। उन्होंने रोक लगा दी थी – दुष्ट को मत सुनाना –

यह न कहिअ सठही हठसीलहि । ७/१२८/३

उन्होंने सोचा – मैंने दुष्टों को सुनाने पर रोग लगाई और इस दुष्ट ने दुष्ट मन को ही श्रोता बनाया, पर गोस्वामीजी का अभिप्राय यह है – "महाराज, आप कैलाश शिखर की ऊँचाई पर रहते हैं, वहाँ तो दुष्ट जा ही नहीं सकेगा। हम जिस मनोभूमि में रहते हैं, वहाँ तो दुष्टता ही दुष्टता है। इस दुष्टता की मनोभूमि अगर हम दुष्ट मन को कथा से वंचित करेंगे, तब तो फिर यह शिष्ट बन ही नहीं पायेगा; इसलिए कृपा कीजिये, गंगा जब ऊपर से नीचे आयेगी, तभी तो इन दुष्टों की दुष्टता दूर होगी। यह तो अवश्य ही है कि जितनी स्वच्छ गंगा शिव की जटा में है, धरती पर आकर उतनी स्वच्छ नहीं रह पाती। धरती की मिट्टी, मैल कुछ-न-कुछ तो उसमें मिल ही जाते हैं, पर इस मलिनता को दूर करने के लिये, पवित्र करने के लिये उस मलिनता को स्वीकार करना पड़ता है।"

इसका अर्थ है कि जैसे गन्दगी-भरे बालक को जब माँ गोद में उठाती है, तो उसके भी कपड़े मैले हो जाते हैं। जब माँ के कपड़े बच्चे की मलिनता से गन्दे हो जाते हैं, तो उससे माँ का वात्सल्य और भी अधिक परिलक्षित होता है। अपने वस्त्रों के गन्दे होने की चिन्ता न करके भी माँ बच्चे को अपनी गोद में उठा लेती है। इसी प्रकार से कथा की गंगा जब ऊपर से नीचे उतरेगी तो उसमें कुछ-न-कुछ मिट्टी तो लगेगी ही। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान शंकर की वाणी में जो पवित्रता है, वह सभी वक्ताओं में तो आ नहीं सकती। वक्ता के अन्त:करण की मलिनता कुछ-न-कुछ उसकी वाणी में आयेगी ही, उसके द्वारा कही गयी कथा में आयेगी ही। लेकिन इतना होते हुए भी गंगा जैसे मृत्तिका से मटमैली लगने पर भी हमें पवित्रता और स्वच्छता देती है, वैसे ही यह कथा-गंगा भी नीचे उतरकर दुष्ट-से-दुष्ट व्यक्ति के जीवन में भी प्रेरणा का संचार करती है, उसे धन्य बनाती है।

यह एक बड़ी मनोवैज्ञानिक बात है और साधना के सन्दर्भ में तो यह बड़े ही महत्त्व का सूत्र है। कथा तो गोस्वामीजी कहते ही थे और उनकी कथा में श्रोताओं की बड़ी संख्या भी होती थी। परन्तु चाहे आप 'मानस' पढ़िये या विनय-पत्रिका, बाहर उनका कोई श्रोता नहीं है। गोस्वामीजी पूरी रामायण की कथा कह रहे हैं, पर वे सम्बोधित किनको करते हैं? वहाँ उनका एकमात्र श्रोता उनका मन है। वे कथा बाहर से नहीं, भीतर से सुनाते हैं, अपने को और अपने मन को सुनाते हुए जो बातें वे कहते हैं, वे बड़ी मधुर हैं।

गोस्वामीजी भगवान राम के उपासक हैं, उनके स्वभाव के, उनकी करुणा और कृपा के उपासक हैं। वे उनकी कृपा और करुणा का वर्णन करते हैं, परन्तु साथ-ही-साथ वे अपने मन से कहते हैं – अरे मन, तूने इनसे क्या अर्थ लिया कि भगवान बड़े कृपालु हैं, तो तू चाहे जो कर ले? – इससे बड़ी कुटिलता और क्या होगी कि जो इतने उदार हैं, उनके साथ कपट करने की चेष्टा करे, उन्हें धोखा देने की चेष्टा करे –

भजहि ऐसे प्रभुहि तुलसी
कुटिल कपट न ठानि। विनय प., २१५

जैसे संसार में भी कोई आप पर विश्वास करके आपको निर्णायक बना दे कि आप जो निर्णय कर दें, हम उसे मान लेंगे, यह सुनकर तो पक्षपाती के हृदय में भी निष्पक्षता आ जानी चाहिये। ऐसा तो नहीं कि निर्णय के दिये हुए अधिकार को मनमाना निर्णय देकर उसकी गरिमा को मिटाया जाय। यह जो भगवान के स्वभाव की करुणा है, इसका अभिप्राय यह है कि बालक के मन में माँ के वात्सल्य की जो अनुभूति होती है, वह माँ के प्रति आदर उत्पन्न करने के बाद माँ की सेवा की वृत्ति उत्पन्न कराती है। जब बालक अपने बचपन का स्मरण करता है कि माँ ने मेरे लिये कितना कष्ट उठाया, किस तरह रात-दिन जागती रही, तो बड़े होकर व्यक्ति के मन में यही भावना तो आनी चाहिये कि हम सेवा करें, जिसने हमारे लिये इतना कष्ट उठाया है, तो वह व्यक्ति सही है। यदि वह माँ के वात्सल्य का केवल लाभ ले और उसमें माँ की सेवा की कोई वृत्ति न आवे, तो ऐसा कुपुत्र तो संसार के लिये भार-स्वरूप ही है। वस्तुत: महापुरुष जो भगवान के किसी विशिष्ट गुणों को महत्त्व देते हैं, उनका यदि सदुपयोग किया जाय, तो वे सभी अपने अपने स्थान पर ठीक और उपयोगी भी हैं। पर यदि किसी सिद्धान्त का दुरुपयोग किया जायेगा, तब तो भले-से-भले सिद्धान्त का भी परिणाम हितकर नहीं होगा। भय यदि व्यक्ति को दुर्बल बनाते बनाते कायरता की सीमा में ला दे और अभय व्यक्ति को निर्भय बनाते बनाते अभिमानी बना दे, तब तो इन दोनों का दुरुपयोग ही हुआ। हनुमानजी ने इस भय और अभय दोनों का सदुपयोग किया। जब सुग्रीव बालि से डरे हुए थे, तब उन्होंने सुग्रीव को अभय का सन्देश दिया। भगवान भी कहते हैं – मित्र, तुम मेरे भुजा के बल से निश्चिन्त हो जाओ, मैं हर तरह से तुम्हारी रक्षा करूँगा –

सखा सोच त्यगहु बल मोरें।
सब बिधि घटब काज मैं तोरें।। ४/७/१०

पर उस सिद्धान्त का जब दुरुपयोग हुआ, निर्भयता और निश्चिन्तता आने पर भजन के स्थान पर भोगों की वृत्ति आयी। तब हनुमानजी जैसे महान् आचार्य यह निश्चय कर लेते हैं – नहीं, व्यक्ति को भोगी बना देनेवाला अभय तो बड़ा घातक है। उन्होंने तत्काल कहा – मैं तुम्हें कथा सुनाऊँगा और कथा सुनाते हुए कथा की व्याख्या ऐसी बदली, पूछ दिया हनुमानजी ने कि भगवान ने जब बालि का वध किया था, उस घटना का चित्र क्या आपको स्मरण है? सुग्रीव ने कहा – महाराज, खूब स्मरण है। भगवान मुझसे इतना प्रेम करते हैं कि मेरे लिये उन्होंने बालि पर बाण चला दिया। हनुमानजी ने कहा – बस, क्या इतना ही याद है? और आगे तो सोचिये। – क्या सोचें?

पूछ दिया – अच्छा यह तो बताइये कि भगवान ने बालि को जो बाण मारा, वह कहाँ गया? सुग्रीव बोले – वह तो लौटकर भगवान के तरकस में ही चला गया। – क्यों? जब काम हो गया तो उसे तरकस में लौटाने की क्या जरूरत थी? सुग्रीव ने हनुमानजी की पुरानी व्याख्या दुहरायी। कहा – महाराज, आप तो कह ही चुके हैं कि भगवान बड़े आश्रितवत्सल हैं। हनुमानजी बोले – "बिल्कुल ठीक, यह तो भगवान का स्वभाव है, वे आश्रितवत्सल हैं। किसी आश्रित को वे दूर नहीं रहने देते, वात्सल्य से उसे अपने पास बुला लेते हैं। इसलिए ये दोनों आश्रित – धनुष और बाण सदा उनके पास रहते हैं। धनुष है टेढ़ा और बाण है सीधा। यही देखकर तो भक्त ने कहा – इससे पता चला कि प्रभु के हाथ में टेढ़े और सीधे, दोनों का निर्वाह है –

धनुष बाण प्रभु निरखि दीनहि होत उदास ।
टेढ़े सूधे सबन को है हरि हाथ निबाह ।।

– लेकिन प्रभु दोनों से दो तरह के व्यवहार करते हैं। – क्या? – बाण को दूर भेज देते हैं और धनुष को पास रखते हैं। – क्यों? बोले – "बाण सीधा है, इसलिए आशा करते हैं कि जायेगा तो लौट आयेगा, पर टेढ़े से डरते हैं कि गया तो न जाने लौटकर आयेगा या नहीं? इसलिए इसे छोड़ना ठीक नहीं है, इसको तो पकड़कर ही रखो।" धनुष को पकड़े हुए हैं, तब तो भगवान बड़े उदार हैं, आश्रित को कभी छोड़ते नहीं हैं। इसीलिये बाण को भी लौटा लिया और अपने पास रख लिया। हनुमानजी ने सुग्रीव से कहा – "आपने भगवान के एक ही पक्ष पर ध्यान दिया। वे जितने बड़े प्रेमी हैं, उतने ही बड़े राजनीतिज्ञ भी हैं। आपने देखा नहीं, भगवान की योजना कितनी दूर तक है। प्रभु ने यह जो अपना बाण लौटा लिया है, मुझे स्पष्ट लग रहा है कि यह बाण उन्होंने आपके लिये रख छोड़ा है कि अगर कहीं सुग्रीव भी बालि के समान आचरण करेगा, तो इसको भी मैं इसी बाण से मारूँगा। प्रभु वहाँ लक्ष्मणजी से कह भी रहे थे –

जेहिं सायक मारा मैं बाली ।
तेहिं रह हतौं मूढ़ कहँ काली ।। ४/१८/५

हनुमानजी ने यह भी कह दिया – "याद रहे, प्रभु ने योजना पहले से ही सोच रखी है, इसीलिये युवराज तुम्हारे बेटे को नहीं, अंगद को बना रखा है। उन्होंने सोच रखा होगा कि यदि सुग्रीव को दण्ड देना पड़ा, तो अंगद को ही राज्य मिलना चाहिये। अब तुम सोच लो कि क्या होने वाला है।"

बेचारे सुग्रीव तो कथा की यह व्याख्या सुनकर ऐसे डरे कि बोले – महाराज, प्रभु मार भी सकते हैं क्या? उन्होंने कहा – केवल सकते ही नहीं हैं, मारने की योजना बन चुकी है। अब इस पर मृत्यु का भय तो आयेगा ही। हनुमानजी ने सुग्रीव के मन में भय उत्पन्न कर दिया। सुग्रीव डर गये और इस भय का अच्छा प्रभाव पड़ा। वे व्याकुल होकर कहने लगे – हनुमान, मैं तो ये बातें जानता हूँ, पर क्या कहूँ, मैं अपने स्वभाव और विषयासक्ति से इतना लाचार हूँ कि अच्छी बातें भूल जाता हूँ। विषय ने मेरे ज्ञान का हरण कर लिया है –

सुनि सुग्रीवँ परम भय माना ।
बिषयँ मोर हरि लीन्हेउ ग्याना ।।
अब मारुतसुत दूत समूहा ।
पठवहु जहँ तहँ बानर जूहा ।।
कहहु पाख महुँ आव न जोई ।
मोरें कर ता कर बध होई ।। ४/१९/३-५

यह है हनुमानजी द्वारा किया गया सुग्रीव के जीवन में भय का सदुपयोग। पर न तो बालि के जीवन में कभी भय रहा, न बालिपुत्र अंगद के जीवन में। अंगद भय से मुक्त हैं। बालि के जीवन में भय से मुक्त रहने से तो कुछ दोष आ गये थे, पर अंगद के जीवन में वह दोष नहीं है। बालि जब भय से मुक्त हो गया, तो थोड़ा अभिमानी हो गया, पर अंगद की विशेषता यह थी कि वे इतने निर्भय थे कि लक्ष्मणजी के आगमन का समाचार सुनकर तत्काल उनके सामने आये। लक्ष्मण महाराज बड़े अद्‌भुत पात्र हैं। उनके जैसा निर्भय कोई नहीं है। महान् निर्भय हैं। इन तीनों पात्रों का अंगद के जीवन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा – पहले पात्र बालि हैं, दूसरे लक्ष्मणजी और तीसरे हनुमानजी हैं। अंगद के चरित्र निर्माण में इन्हीं तीनों लोगों की भूमिका मुख्य रूप से दिखाई देती है।

लक्ष्मणजी में ऐसी अभयवृत्ति है कि वे किसी से डरते नहीं। परशुराम से सारा ब्रह्माण्ड काँपता है, पर जब उन्होंने लक्ष्मणजी को डराने की चेष्टा की तो उन्हें सीधा उत्तर मिला –

इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं ।
जो तरजनी देखि मरि जाहीं ।।
पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू ।
चहत उड़ावन फूँकि पहारू ।। १/२७३/३,२

पर उस अभय के पीछे तत्त्व क्या है? एक दृष्टि से देखें, तो लक्ष्मणजी में अभय है और भय भी है, परन्तु सुग्रीव तथा लक्ष्मणजी के भय में एक बहुत बड़ा अन्तर है, इसे आप गहराई से ध्यान में रखिए। सुग्रीव का भय मानो बालवृत्ति का भय है और लक्ष्मणजी के जीवन में जो भय है, वह वैसा नहीं है। बालकों में जो भय होता है, वह अज्ञानजनक भय होता है। बालक को कहिए कि हौवा पकड़ लेगा, तो वह बेचारा जानता भी नहीं कि हौवा क्या होता है, पर डर के मारे काँपने लगता है। पर एक भय और होता है, जो अज्ञान से नहीं, प्रेम से उत्पन्न होता है। यदि आप किसी से बहुत प्रेम करें, तो आपके किसी कार्य से उन्हें कष्ट न हो जाय, कुछ उनकी इच्छा के विपरीत न हो जाय, इसका डर तो आपको बना ही रहता है। उत्कृष्ट प्रेम के बाद भी भय की एक स्थिति आती है। और

भय तो सीताजी में भी है – वे सतत प्रभु के चरण-चिह्नों पर दृष्टि रखकर चलती हैं, एक एक पग डरकर उठाती हैं –

प्रभु पद रेख बीच बिच सीता ।
धरति चरन मग चलति सभीता ।। २/१२३/५

श्री सीताजी को यह डर किस बात का है? जैसे सुग्रीव को दण्ड का, मरने का डर है, उन्हें वैसा डर तो नहीं है। तो कैसा डर है? यह डर है प्रेम का – प्रेम से उत्पन्न डर। उन्हें प्रभु की मर्यादा का इतना ध्यान है कि कहीं मेरे चरण की रेखा से प्रभु के चरण की रेखा मिट न जाय। और लक्ष्मणजी को भी प्रेम का भय है? इसका अभिप्राय है कि वह भय जो अज्ञान से उत्पन्न होता है, वह तो अलग होता है। और दूसरा भय, जो लक्ष्मणजी को हुआ, वह प्रेम के बाद होता है। गोस्वामीजी कहते हैं – जनकपुर में भगवान राम सोये हुए हैं, लक्ष्मणजी उनका पैर दबा रहे हैं, लेकिन कैसे दबा रहे हैं? –

चापत चरन लखनु उर लाएँ ।
सभय सप्रेम परम सचु पाएँ ।। १/२२६/७,

'सभय' – डरे हुए पैर दबा रहे हैं। – तो क्या लक्ष्मणजी डरते भी हैं? गोस्वामीजी ने तुरत एक शब्द जोड़ दिया। **'सभय सप्रेम' – यह प्रेम से जुड़ा हुआ भय है। जब हम किसी से बहुत अधिक स्नेह करते हैं, तो हमें उनकी इतनी अधिक चिन्ता हो जाती है कि उनको कोई कष्ट न हो जाय,** कोई असुविधा न हो जाय – ऐसा जो दिव्य भावमय भय है, वह श्री सीताजी तथा लक्ष्मणजी में दिखाई देता है।

प्रभु ने एक बार लक्ष्मणजी से पूछ लिया – सारा संसार तुमसे डरता है, पर बिना कारण तुम मुझसे क्यों डरते हो? लक्ष्मणजी ने कहा – महाराज, मैं तो यह चाहता हूँ कि मुझे डरते देखकर संसार सावधान हो जाय कि जब काल भी ईश्वर से डरता है, तो मनुष्य को तो डरना ही चाहिए। लक्ष्मणजी तो साक्षात् काल के अवतार हैं न! मानो उनका संकेत हम सबके लिए है कि सावधान होकर रहो। जब काल भी ईश्वर के सामने सावधान होकर चलता है, तो साधारण मनुष्य को तो सावधान होना ही चाहिये। मानो इस प्रकार से लक्ष्मणजी भय दिखाकर सबको भगवान की ओर ले जाते हैं।

पर अंगद के जीवन में भय की कोई अपेक्षा नहीं है, अंगद तो बालि के पुत्र थे, बड़े निर्भय थे। जब उन्होंने सुना लक्ष्मणजी पूरे नगर को जलाने के लिये आये हुए हैं, गोस्वामी बिना किसी लाग-लपेट के तत्काल कह देते हैं – पूरे नगर के लोग भय के मारे काँप रहे हैं, लेकिन बालि के पुत्र अंगद निश्चित होकर आते हैं और उन्हें देखकर लक्ष्मणजी प्रसन्न हो जाते हैं और अंगद को अभयदान देते हैं।

लक्ष्मणजी का यह अभयदान बड़ा विलक्षण है। मरते समय बालि ने अंगद की भुजा भगवान के हाथों में पकड़ा दी थी। इस प्रकार भगवान ने पहले ही अंगद की बाँह पकड़कर उन्हें शरण में ले चुके हैं। पर आज जब लक्ष्मणजी ने अंगद की भुजा पकड़कर उन्हें अभयदान दे दिया, तो उसमें और भी परिपूर्णता आ गयी। आचार्य और भगवान – जब दोनों ने स्वीकृति दे दी, तो मानो यह पूर्णता आ गयी। केवल भगवत्कृपा नहीं, केवल आचार्यकृपा नहीं, दोनों की कृपा!

इसलिए जब विभीषण शरण में आये तो उनकी और लक्ष्मणजी की प्रकृति तो मेल नहीं खाती थी। प्रभु ने सोचा – मैं तो शरण मं ले रहा हूँ, पर कहीं लक्ष्मण विरोध तो नहीं करेंगे? लक्ष्मणजी तो परम तेजस्वी हैं, इसलिए प्रभु ने बड़ा अच्छा अभिनय किया और वह अभिनय बड़ा सफल रहा। गोस्वामीजी कहते हैं – जब विभीषणजी ने आकर प्रभु को प्रणाम किया तो प्रभु ने लक्ष्मणजी की ओर देखा। बोले – लक्ष्मण, यह तो तुम देख ही रहे हो, मेरा शरीर बड़ा दुर्बल है और यह विभीषण कितना भारी है, तुम मेरी थोड़ी-सी सहायता करो न! – क्या सहायता करूँ? – इसकी एक बाँह मैं पकड़ता हूँ और एक बाँह तुम पकड़ो, चलो दोनों मिलकर उठायें। लक्ष्मणजी ने ज्योंही विभीषण की बाँह पकड़ी, प्रभु ने मुस्कुराते हुए कहा – **"अब ध्यान रखना, तुमने इसकी बाँह पकड़ ली है। देखो, तृण भी जिस बहते हुए की बाँह पकड़ लेता है, तो उसकी रक्षा करता है, तो तुम जैसे दिव्य चरित्र वाले को तो विशेष रूप से ध्यान रखना होगा।"**

केवल एक ओर से नहीं, प्रभु और लक्ष्मणजी दोनों मिलकर उठाते है अर्थात् सुरक्षा दोनों ओर से मिलनी चाहिए। अंगद को ऐसी सुरक्षा प्राप्त है। इसलिए सुवेल पर्वत पर जब प्रभु ने अंगद और हनुमान के बीच चरण का बँटवारा किया, तो दाहिना चरण अंगद की गोद में रख दिया और बाँया चरण हनुमानजी की गोद में। किसी ने प्रभु से पूछा – यह कैसा बँटवारा है? प्रभु ने मुस्कुराकर कहा – जो जिसके आचार्यत्व के लिये आया है, उसको वही भाग दे दिया। – वह कैसे? बोले – अंगद तो लक्ष्मण के शिष्य हैं और लक्ष्मण मेरे दाहिने ही रहते है, इसलिए इनको दाहिना चरण दिया और हनुमान श्री सीताजी के कृपापात्र हैं, वे मेरे वाम भाग में रहती हैं, अत: बायाँ चरण उनको दे दिया। इस तरह से दोनों अपने अपने मार्ग से चरण के अधिकारी बने हुए हैं।

अंगद के चरित्र में यह अभय सर्वत्र दिखाई देता है। चाहे वह श्री सीताजी की खोज हो या रावण की सभा में। श्री सीताजी की खोज में सारे बन्दर सम्पाती के वचन को सुनकर डर से काँपने लगे। लेकिन उस समय अगर कोई अभय पात्र दिखाई देता है, तो वह हैं अंगद। गोस्वामीजी कहते हैं –

कह अंगद बिचारि मन माहीं ।
धन्य जटायू सम कोउ नाहीं ।।

शेष अगले पृष्ठ पर

चेतना की शक्ति

स्वामी सत्यरूपानन्द

१८९७ में स्वामी विवेकानन्दजी अमेरिका से दिग्विजयी होकर भारतवर्ष लौटे। भारत के विभिन्न भागों में व्याख्यान देते हुए वे कलकत्ते आये। एक दिन की घटना - स्वामीजी कलकत्ते के बागबाजार मुहल्ले में एक भक्त के घर ठहरे थे। वहाँ स्वामीजी के एक पट्ट शिष्य शरत्चन्द्र चक्रवर्ती आ पहुँचे। उन्होंने देखा, घर के सामने एक घोड़ागाड़ी खड़ी है और स्वामीजी कहीं जाने को तैयार हैं। शिष्य को देखकर स्वामीजी ने कहा, "तू भी मेरे साथ चल।" गाड़ी दोनों को लेकर चल पड़ी। गाड़ी रेल लाइन के किनारे किनारे चल रही थी। उसी समय विपरीत दिशा से रेल का एक इंजन आता हुआ दिखा। स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "देख, कैसे सिंह के समान चला जा रहा है।" शिष्य ने कहा, "महाराज, उसमें इंजन की क्या विशेषता है? वह तो जड़ है। उसके पीछे मनुष्य की चेतना-शक्ति कार्य कर रही है। इसीलिए वह चल रहा है।"

स्वामीजी ने पूछा, "अच्छा बताओ, चेतना का लक्षण क्या है?" शिष्य ने कहा, "महाराज, चेतना वही है जिसमें बुद्धि की क्रिया पायी जाय।" स्वामीजी ने कहा, "जो भी प्रकृति के विरुद्ध विद्रोह करता है, उससे लड़ता है, वह चेतना है। उसी में चैतन्य का विकास है। यदि एक चींटी को भी मारने जाओ, तो वह भी अपनी जीवन-रक्षा के लिए एक बार संघर्ष करेगी। अतः जहाँ पुरुषार्थ है, संग्राम है, वहीं जीवन का चिह्न है और उसी में चैतन्य का प्रकाश है। प्रकृति से विद्रोह, प्रकृति से संघर्ष, संग्राम, यही जीवन है। प्रकृति की दासता तो जीवन्मृत्यु है।"

आज विज्ञान और तकनीकी ने हमें जो सुविधाएँ दी हैं, वे सब प्रकृति के विरूद्ध विद्रोह और संघर्ष करके ही तो प्राप्त की गई हैं। प्रकृति हमारी आवाज को कुछ मीटर से अधिक दूर नहीं जाने देती। किन्तु वैज्ञानिक ने इसके विरुद्ध विद्रोह किया, प्रकृति से लड़ाई की, उसने ऐसे यत्र बना लिए कि हम हजारों किलोमीटर के अन्तर पर रहते हुए भी एक-दूसरे की आवाज को सुन सकते हैं। यह कैसे सम्भव हुआ? प्रकृति से युद्ध करके। पुरुषार्थ द्वारा उस पर विजय प्राप्त करके।

यही उपाय है जीवन की सफलता का, दासत्व और दुखों से मुक्त होकर परम आनन्द और शान्ति पाने का। हमारी आन्तरिक और बाह्य - दोनों प्रकृतियाँ हमें दबाकर रखना चाहती हैं। वे हमें दास बनाकर रखना चाहती हैं। अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए, अपना चरित्र गठित करने के लिए, जीवन में पूर्णता और आनन्द प्राप्त करने के लिए हमें प्रकृति की इस दासता से मुक्त होना आवश्यक है। हमें प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष करना होगा। उसे जीतना होगा। ऐसा कर सकना मनुष्य के लिए सर्वथा सम्भव है। मूल रूप में मनुष्य नित्य-मुक्त-शुद्ध-बुद्ध-चैतन्य आत्मा ही है और चैतन्य सर्वशक्तिमान होता है। चैतन्य से बड़ी और कोई शक्ति नहीं है। अतः मनुष्य प्रकृति पर, अन्तः और बाह्य प्रकृति पर पूर्ण विजय प्राप्त कर सकता है तथा इसी जीवन में पूर्णत्व प्राप्त कर परमानन्द का अधिकारी हो सकता है। यही स्वामी विवेकानन्द का युग को सन्देश है।

❑❑❑

पिछले पृष्ठ का शेषांश

राम काज कारन तनु त्यागी।
हरिपुर गयउ परम बड़भागी।। ४/२७/७-८

सम्पाती ने कहा था कि इतने बन्दर अनसन कर रहे हैं, मैं बहुत दिनों तक इन्हें खाकर अपना पेट भरूँगा। यह सुनकर बेचारे बन्दर तो काँपने लगे, पर अंगद उन्हें आश्वासन देते हुए कहते हैं – "एक गिद्ध ने तो सीताजी की रक्षा के लिये कितनी वीरतापूर्वक अपने प्राणों की आहुति दे दी, प्रभु के कहने पर भी उसने अपने प्राणों का लोभ नहीं किया, जीने की इच्छा नहीं की। एक गिद्ध तो वह था और दूसरा यह है जो सीताजी को खोजनेवालों को ही खाना चाहता है। सीताजी की खोज में यदि हमारे प्राण भी चले जायँ, तो हम लोगों का जीवन धन्य हो जायेगा।" सम्पाती को अंगद के भाषण से बड़ी प्रेरणा मिली। जब उसने सुना कि अंगद ने कितनी ऊँची बात कह दी है, तब वह उन्हें अभय देकर पूछने लगा –

तिन्हहि अभय करि पूछेसि जाई। ४/२७/१०

अंगद का चरित्र अभय-प्रधान है। उनमें कही भय नहीं है। रावण की सभा में अकेले जाने में भी, रावण को चुनौती देने में भी, उन्हें रंचमात्र भय नहीं है। यह अंगद के चरित्र की निर्भयता भगवान राम और लक्ष्मणजी के द्वारा प्रदत्त है।

❖ (क्रमशः) ❖

जीने की कला (१४)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

अध्याय २

प्रेम की अद्भुत शक्ति

"सारा जगत् सच्चा प्रेम पाने के लिए व्याकुल है। बदले में कोई इच्छा बिना रखे ही यह प्रेम देना चाहिए। प्रेम कभी निष्फल नहीं होता मेरे बच्चे, कल हो या परसों या युगों बाद, पर सत्य की जय अवश्य होगी। प्रेम ही मैदान जीतेगा। क्या तुम अपने भाई – मनुष्यों से प्रेम करते हो? "प्रेम की सर्वसमर्थ शक्ति में विश्वास करो। यदि तुम्हारे पास प्रेम है, तो तुम सर्वशक्तिमान हो। संसार को ऐसे लोग चाहिए, जिनका जीवन नि:स्वार्थ ज्वलन्त प्रेमस्वरूप है।"

— *स्वामी विवेकानन्द*

"सभी चीजें समतुल्य चीजों को आकर्षित करती हैं, समतुल्य चीजों को उत्पन्न करती हैं और समतुल्य चीजों के समान ही बन जाती हैं। प्रेम में भी ऐसा ही होता है।

"ज्योंही कोई व्यक्ति अपने सम्पर्क में आनेवाले अप्रिय या मतभेद रखनेवाले लोगों से ठीक ठीक प्रेम करना सीख लेता है, त्योंही वह बन्धन से मुक्त हो जाता है।"

— *जिना सरमिनारा*

"सच्चा प्रेम उर्वरता की एक अभिव्यक्ति है; इसमें देखभाल, आदर, जिम्मेदारी तथा समझ शामिल हैं। यह प्रेम करने की किसी की अपनी क्षमता के मूल में निहित, प्रेमास्पद के सुख और उन्नति के लिए एक सक्रिय प्रयत्न है।"

— *एरिक फ्रॉम*

बिना स्वाधीनता के प्रेम आ नहीं सकता। दास में सच्चा प्रेम होना सम्भव नहीं। तुम भले ही संसार के सारे ग्रन्थ पढ़ डालो; पर यह प्रेम न तो वाग्मिता द्वारा, न तीव्र बुद्धि से और न शास्त्रों के अभ्यास से ही पाया जा सकता है। जिसे ईश्वर की चाह है, उसी को प्रेम मिलेगा और ईश्वर स्वयं को उसे दे देता है। अत: प्रेम सदा पारस्परिक तथा परावर्तक होता है और इसके बिना हम आनन्द नहीं पा सकते।

— *स्वामी विवेकानन्द*

प्रेम का जादू

जहाँ प्रेम है, वहाँ भय नहीं रहता।

ईसा ने कहा, "सच्चा प्रेम सभी प्रकार के भय का नाश कर देता है।" पवित्र और नि:स्वार्थ प्रेम एक दिव्य शक्ति है। सेन्ट पॉल कहते हैं, "विश्वास, आशा और प्रेम – इन तीन सद्‌गुणों में प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ है।"

प्रेम, प्रेरणा और कार्य करने की बड़ी क्षमता प्रदान करता है। ये दोनों ही मानवता की प्रगति के लिए आवश्यक हैं।

प्रेम जीवन, स्वास्थ्य, प्रसन्नता और शान्ति प्रदान करता है। किसी व्यक्ति को नरक के अन्धकारमय गर्त से बाहर निकालने की शक्ति प्रेम में ही है। प्रेम किसी व्यक्ति के जीवन में आमूल सुधार ला सकता है, जिसके फलस्वरूप वह हर क्षेत्र में उन्नति कर सकता है। प्रेम के अभाव में लोग विसादग्रस्त, क्षीणकाय और दुखी हो जाते हैं।

विशेषज्ञों का कहना है कि जो बच्चे अपनी शैशवावस्था या बचपन में माता-पिता के शुद्ध प्रेम का आस्वादन नहीं कर पाते, वे बाद में दुष्ट, भ्रष्ट और क्रूर बन जाते हैं।

एक विशेषज्ञ का कहना है, "बच्चों को यदि शैशवावस्था से ही भय के वातावरण में रखा जाय तो ऐसी परिस्थिति में उनके हृदय में अपने आप ही हिंसा, बुराई, क्रूरता, निष्ठुरता जैसे गुण पनपने लगते हैं। उन्हें भय और आतंक में रखना, उन्हें अपराधी बनाने का निश्चित उपाय है।"

बच्चों के प्रति निश्छल प्रेम दर्शाने का यह अर्थ कदापि नहीं कि उन्हें यथेच्छाचार करने दिया जाय। नि:सन्देह बच्चों का पालन-पोषण के दौरान सुधार-प्रक्रिया के एक अंग के रूप में अनुशासन जरूरी है। अच्छे कार्यों की प्रशंसा तथा पुरस्कार द्वारा उत्साहवर्धन करना बच्चों के साथ व्यवहार करने का एक सार्वभौमिक मान्यताप्राप्त तरीका है। और इसमें भी सन्देह नहीं कि गल्तियाँ करने पर उन्हें दण्ड देना निश्चित रूप से आवश्यक है। जब बच्चों को बोध होता है कि दण्ड तथा डाँट उनके अपने हित के लिए है और जब उन्हें दिया गया दण्ड उनकी गल्ती के अनुरूप होता है, तो सामान्यतया वे उसे बुरा नहीं मानते। जो भी हो, बच्चों को बोध होना चाहिए कि दण्ड उनके दुष्कर्म के लिए है। जिस समय डाँट-फटकार ही बच्चों के हित में हो, उस समय उन्हें लाड़-प्यार करना ठीक नहीं।

समर्पण में ही जीत है

एक शिक्षित दम्पति है। पति-पत्नी, दोनों एक ही कॉलेज में पढ़ाते हैं। दोनों में प्राय: असहमति रहती थी। तर्क-वितर्क से कभी कभी संकट खड़ा हो जाता था। कुछ काल बाद पति

का तबादला हुआ। नये शहर में दोनों एक साथ रहने लगे। थोड़े दिन वे शान्तिपूर्वक रहे। एक दिन दोनों में फिर झगड़ा हुआ। पति अपने क्रोध पर नियंत्रण न रख सका। उसने पत्नी के गाल पर थप्पड़ जड़ दिया। पत्नी भी इसे सह नहीं सकी। वह उसी रात अपनी माँ के साथ रहने चली गयी।

कुछ दिनों बाद उसने किसी से सुना कि उसके पति को टायफायड ज्वर हुआ है। वह अपना कर्तव्य निर्धारित नहीं कर सकी। वह श्री ब्रह्मचैतन्य महाराज के पास गयी। उन्होंने कहा – "एक साइकिल की कल्पना करो। यदि इसके एक पहिए को एक दिशा में और दूसरे पहिए को विपरीत दिशा में चलाया जाय, तो साइकिल नहीं चलेगी। नर और नारी में थोड़ा-बहुत मतभेद होना स्वाभाविक ही है। संसार चलाने के लिए यह मतभेद आवश्यक है। यदि मनुष्य के पास शौर्य और उदारता है, तो नारी धैर्य और सहनशीलता की प्रतिमूर्ति है। वस्तुत: भगवान का यह बनाया हुआ संसार एक रंगमंच है, जहाँ हर व्यक्ति से यथाशक्ति सर्वोत्तम ढंग से उसकी भूमिका के निर्वाह की अपेक्षा की जाती है। छोटी भूमिका मिले, तो भी उसे प्रभावशाली ढंग से सम्पन्न किया जाना चाहिए। एक छोटी भूमिका के लिए पुरस्कार या सफलता का उतना ही महत्त्व है, जितना बड़ी भूमिका के लिए। बच्चों को जन्म देना और माँ बनने का सम्मान प्राप्त करना नारी का विशेषाधिकार है। वह तुम्हारे पति को कभी उपलब्ध नही हो सकता। अत: अपने अधिकार का दावा करने का विचार छोड़ दो। एक दूसरे को प्रेम और स्नेह देने में ही सुख है।" उसने पूछा – "अब मैं क्या करूँ?" श्री महाराज ने कहा – "अगली ट्रेन से पति के पास चली जाओ। उनकी ऐसी सेवा करो, मानो तुम दोनों के बीच कुछ हुआ ही न हो। नित्य प्रात: उन्हें प्रणाम करना। तुम कृतार्थ हो जाओगी।"

तदनुसार वह अपने पति के पास चली गई और उनकी सेवा करने लगी। कुछ ही दिनों में उनका ज्वर उतर गया। एक दिन प्रात: उठने पर पति ने देखा कि पत्नी उसे प्रणाम कर रही है। वह आत्मग्लानि से भरकर कह उठा, "ईश्वर की कृपा से मेरी हालत सुधर रही है, परन्तु मैं अपने आचरण के लिए अत्यन्त दुखी हूँ। तुम मेरी गलती पर ध्यान न देकर मेरे पास आ गयी। तुम्हें निश्चय ही किसी महात्मा का निर्देश मिला होगा। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं इस गल्ती की पुनरावृत्ति नहीं करूँगा।" पति-पत्नी के बीच मेल-जोल हो गया। कुछ दिनों बाद उन्हें एक पुत्र हुआ। दोनों अपने पुत्र के साथ श्री महाराज के पास गये और अपने जीवन में शान्ति और सामंजस्य की बहाली के लिए उनके प्रति आभार व्यक्त किया।

रहस्य क्या है?

समाजशास्त्र के एक प्राध्यापक ने अपने छात्रों को निर्धनों की बस्ती में रहनेवाले युवकों का अध्ययन करने का निर्देश दिया था। यह घटना अमेरिका के बाल्टीमोर अंचल में हुई थी। छात्रों ने वहाँ जाकर लगभग २०० युवकों का साक्षात्कार लिया और उनके बारे में ढेर सारी सूचनाएँ एकत्र कीं। बस्ती का परिवेश भयावह था। वहाँ युवकों के लिए सद्‌गुणों को सीखने का कोई अवसर न था। उस बस्ती का अध्ययन करनेवाले छात्रों ने भविष्यवाणी की कि वहाँ के कम-से-कम ९०% युवक आगे चलकर अपराधी बन जायेंगे।

२५ वर्षों बाद उन्हीं प्राध्यापक ने उसी क्षेत्र में एक अन्य अध्ययन-दल भेजा। वे यह जानने को उत्सुक थे कि उनके पुराने छात्रों की भविष्यवाणी कहाँ तक सत्य हुई है। २५ वर्षों पूर्व के दल ने जिन २०० युवकों का अध्ययन किया था, छात्रों का यह नया दल उनमें से १६० लोगों से मिलने में समर्थ हुआ। छात्रों को यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि पूर्ववर्ती भविष्यवाणी गलत साबित हुई। उनमें से सभी सभ्य मनुष्य बन गये थे। उनके इस रूपान्तरण का क्या रहस्य था?

रूपान्तरण का अग्रदूत

नया अध्ययन-दल पहले की भविष्यवाणी के असत्य हो जाने का कारण जानने को उत्सुक था। दल के सदस्यों को पता चला कि उस झुग्गी-झोपड़ी क्षेत्र में स्थित विद्यालय के सभी विद्यार्थी मिस शीला रौरके नामक एक अध्यापिका के प्रभाव में आये थे। शीला तब तक सेवानिवृत हो चुकी थी। उसे खोज पाना बड़ा कठिन कार्य था। परन्तु थोड़े प्रयास के बाद अध्ययन-दल उसे ढूँढ़ने में सफल हो गया। सदस्यों ने उससे पूछा कि इस निराशाजनक परिवेश में वह बालकों को कैसे प्रेरित कर सकी तथा उन्हें प्रगति-पथ पर आगे बढ़ाकर देश के सुयोग्य नागरिक बनाने में उसने क्या तकनीक अपनायी? शीला रौरके ने कहा, "मुझे नहीं लगता कि मैंने कोई योजनाबद्ध रूप से कार्य किया हो। मैं तो केवल इतना ही जानती हूँ कि वहाँ अध्यापिका के रूप में कार्यरत रहते समय मैंने प्रत्येक विद्यार्थी से प्रेम तथा आदर से युक्त व्यवहार किया।"

आप सोच सकते हैं कि यह बड़ा साधारण उत्तर है, पर इसका यह अर्थ है कि आपने प्रेम के सच्चे स्वरूप को ठीक ठीक नहीं समझा। आपने प्रेम को सस्ती आवेगपूर्ण भावुकता के समतुल्य ही समझ लिया है। प्रेम सच्चा रूपान्तरण शुरू कर सकता है। केवल प्रेम प्राप्त करनेवाले लोग ही इसकी सच्ची महानता को समझ सकते हैं, और केवल वे ही लोग दूसरों को प्रेम प्रदान कर सकते हैं। प्रेम अपने पात्र-व्यक्ति की आत्मछवि को सबल बनाकर उसके आत्मविश्वास में वृद्धि कर सकता है। शुद्ध प्रेम का आस्वादन करनेवाला विकसित होकर एक सर्वांगीण व्यक्तित्व में परिणत हो जाता है। वह अपने वैशिष्ट्य को बनाये रखकर एक उत्तम चरित्रवाला हो जाता है।

माता-पिता तथा परिवार के बड़ों का व्यवहार प्रेम एवं समझदारी से युक्त होना चाहिए। इस प्रकार घर के बड़े एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिसे देखकर बच्चे उसे अपनाने का प्रयास करते हैं। बच्चों में ऊर्जा तथा सम्भावनाओं का भण्डार होता है। बड़े के साथ मेलजोल से प्राप्त विशुद्ध प्रेम और नैतिक प्रेरणा बच्चों की प्रसुप्त शक्ति को सही दिशा की ओर उन्मुख करने में सहायक होती है।

विशुद्ध प्रेम प्राप्त करनेवाला ही यह प्रेम दूसरों को दे सकता है। नवजात शिशु बातें नहीं कर सकता, तो क्या कोई माता यह सोचती है, "बच्चा तो कुछ नहीं बोलता, तो फिर मैं क्यों बोलूँ?" माँ अपने बच्चे के साथ कितने प्रेमपूर्वक बातें करती रहती है। वह बच्चे पर अपने प्रेम की वर्षा करती है और बच्चा आनन्द और किलकारी के द्वारा उसका उत्तर देता है। हँसी और खिलखिलाहट ही प्रेम की भाषा है। माँ के इस प्रेमपूर्ण आचरण के कारण ही बच्चा बोलना सीखता है। इस प्रकार वह बोलने की कला जान लेता है। सच ही कहा गया है, "माँ के घुटनों पर ही बोलना सीखा जाता है।"

शिशु बोलकर अपना प्रेम प्रकट नहीं कर सकते। शिशु के रूप में हम प्रेम प्राप्त करते तो हैं, परन्तु बोधपूर्वक हम उसका प्रतिदान करने में सक्षम नहीं हैं। घर में माता-पिता तथा बड़ों और विद्यालय में अध्यापकों और सहपाठियों द्वारा प्राप्त प्रेम के द्वारा ही हमारा विकास होता है। नि:स्वार्थ तथा विशुद्ध प्रेम ही हमारे चरित्र की विशेषताओं की पहचान करता है, हमारे गुणों को देखता है, भूलों को क्षमा करता है, हमें सन्मार्ग की ओर प्रेरित करता है, हमारी अच्छाइयों को रेखांकित करता है और हमारी विशेषताओं को बनाये रखकर हमारे व्यक्तित्व के विकास में मदद करता है।

यह नि:स्वार्थ प्रेम हमें कौन दे सकता है?

एरिक फ्रॉम कहते हैं, "लोगों का विश्वास है कि प्रेम करना बड़ा आसान है। यद्यपि हम सभी प्रेम करने की जन्मजात क्षमता रखते हैं, तो भी केवल कुछ लोगों ने ही वास्तव में प्रेम करने की कला अर्जित की है। कोई युवक सोच सकता है कि जिस युवती से उसका विवाह होने जा रहा है, वह उससे प्रेम करता है; क्योंकि युवती बुद्धिमान, सुघड़ तथा सुन्दर है। पर इसे सच्चा प्रेम नहीं कहा जा सकता। यह तो केवल प्रशंसा या पसन्द ही प्रकट करता है। प्रेम की दृढ़ता और स्थिरता प्रिय के गुणों पर नहीं निर्भर करती। व्यक्ति की क्षमता के अनुसार ही प्रेम सुदृढ़ या स्थिर होता है। कुछ लोगों की धारणा है, प्रेम कर पाने का गुण जन्मजात नहीं होता। विलियम सी. मेनिंजर कहते हैं, "बेहतर तो यह होगा, यदि माता-पिता ही बच्चों को प्रेम करने की कला सिखाएँ।"

प्रेम का स्वरूप

अनेक लोगों का विचार है कि प्रेम एक भावनात्मक उत्तेजना या पुरुष तथा नारी के बीच दैहिक आकर्षण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पर दैहिक आकर्षण और काम-भावना से अलग करके ही हमें सच्चे प्रेम के स्वरूप को समझने का प्रयास करना चाहिए। केवल तभी हम इसकी विराट् शक्ति तथा महान् प्रभाव को महसूस कर सकते हैं।

एडलाइ स्टीवेंसन कहते हैं, "प्रेम का अर्थ भावुकता या अधिकारपूर्ण भावना नहीं है, अपितु दूसरों के वैशिष्ट्यों की सतत पहचान और निरन्तर उनके भले की कामना है।"

उस गरीबों की बस्ती के बच्चों के प्रति शीला रौरके द्वारा दिया गया प्रेम इसी कोटि का है। उन्होंने हर छात्र का पर्याप्त ध्यान रखते हुए उसकी रुचि, पृष्ठभूमि, सामर्थ्य तथा कमियो का ख्याल करके, उनके विकास हेतु अपेक्षित बातो के बारे में विचार किया था। एक वाक्य में कहें तो वे अपने प्रत्येक छात्र को समझने में समर्थ थीं। उन्होंने उनके सर्वांगीण विकास की आवश्यकता को पूरा करने के लिए उनके सुखों तथा दुखों में

वन्द्य विवेकानन्द

डॉ. हरिवंश अनेजा

वन्द्य विवेकानन्द! तुम्हारी जय हो, जय हो।
शुभ्र समुज्ज्वल-विमल तुम्हारा यश अक्षय हो॥

परमहंस श्रीरामकृष्ण से प्राप्त किया जो,
ज्ञान जगत् में मुक्त कण्ठ से बाँट दिया वो।
रही कामना सदा तुम्हारी विश्व अभय हो,
वन्द्य विवेकानन्द! तुम्हारी जय हो, जय हो॥

जन-मन में अद्वैतवाद की ध्वनि यह गूंजी,
सब आत्माएँ अंशरूप हैं परमात्मा की।
परमतत्त्व में भोगमुक्त आत्मा का लय हो,
वन्द्य विवेकानन्द! तुम्हारी जय हो, जय हो॥

राष्ट्र दासता के बन्धन से मुक्त हो सके,
देश देश में जाकर यत्न किए थे तुमने।
रही तुम्हारी चाह कि भारत मंगलमय हो,
वन्द्य विवेकानन्द! तुम्हारी जय हो, जय हो॥

सदा तुम्हारे उपदेशों से प्रेरित हों जन,
धर्म, सत्य, निष्ठा से परिपूरित हो जीवन।
कभी न तम से ग्रस्त, जगत् यह ज्योतिर्मय हो,
वन्द्य विवेकानन्द! तुम्हारी जय हो, जय हो॥

हिस्सा बँटाने का प्रयास किया था। वे विद्यार्थियों को प्रेम तो करती थीं, पर इसका यह अर्थ नहीं कि उन्हें मनमाने ढंग से कुछ भी करने की छूट मिल गयी थी। छात्रों द्वारा शरारत की लक्ष्मण-रेखा पार कर जाने पर उन्होंने अपनी छड़ी का सहारा भी लिया था। परन्तु जिस प्रकार उन्होंने छात्रों की भूलों के लिए उन्हें सजा दी, ठीक उसी प्रकार उनकी विशेष उपलब्धियों तथा प्रतिभा के लिए उन्होंने उनकी प्रशंसा और प्रोत्साहन दिया था। उनकी कल्याण-कामना के अलावा अन्य कोई भी विचार न रखकर उन्होंने उन्हें शिष्ट व्यक्ति बनाने के लिए दीर्घ काल तक कठोर प्रयत्न किया था। वस्तुत: यदि वे प्राप्त वेतन के बदले अपेक्षित न्यूनतम कर्तव्य ही करती रहतीं, तो भी कोई उन पर दोषारोपण नहीं करता। उनकी सद्भावनाओ तथा भले इरादों को समझ पाने में अक्षम लोग व्यंग्यपूर्वक कह सकते थे, "वह इन मूर्खों के लिए इतना कष्ट क्यों मोल लेती हैं? लगता है उसे करने को घर पर कोई बेहतर कार्य नहीं है। नहीं तो भला कौन इन शैतानो को सुधारने की चेष्टा में लगेगा? या इससे कहीं उसे कोई और लाभ तो नहीं मिलता?"

परन्तु यह प्रेम की शक्ति है। प्रिय व्यक्ति के लिए की गई सेवा और त्याग दूसरों को बहुत अधिक लग सकता है। पर बच्चे के बीमार और दर्द से चिल्लाते रहने पर क्या कोई माँ शान्तिपूर्वक सो सकती है? वह निद्रा त्यागकर किसी भी प्रकार की कठिनाई का सामना करके बच्चे को स्वस्थ करने हेतु सेवा करती है। इसी प्रेम के कारण मनुष्य अपने शैशवकाल की असहाय अवस्था में भी जीवित रह पाने में समर्थ होता है। प्रेम की यही अभिव्यक्ति बच्चों में आत्म-सम्मान एवं आत्म-विश्वास का भाव ला देती है और उन्हें महान् व्यक्तियों के रूप मे विकसित होने में मदद करती है। शीला रौरके उन अभागे बच्चों के प्रति जो शुद्ध तथा नि:स्वार्थ प्रेम अर्पित करने मे समर्थ हुईं, उसी के फलस्वरूप अन्तत: वे बालक अपने पैरों पर खड़े होकर अच्छा जीवन बिताने के योग्य हुए थे। शायद अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि "मैंने हर बच्चे को प्यार किया!" शीला के अत्यन्त साधारण कथन के मर्म में नि:स्वार्थता तथा सेवाभावना का एक कैसा मिसाल छिपा है! तुम्हारे भीतर भी प्रेम का स्रोत उमड़ना चाहिए। चलो, हम भी प्रेम के लिए बलिदान होना सीख लें। चलो, हम भी सेवा के आदर्श के प्रति लगाव तथा यथार्थ प्रेम का विकास करें।

तुम्हारा आदर्श

तुम भी लोकप्रिय होना चाहते होगे, पर तुम्हें कोई उपाय नजर नहीं आता। उपाय है। क्या तुम लोगों के विशेष गुणों तथा क्षमताओं को पहचानकर, उनकी प्रशंसा करके, निश्छल भाव से आनन्दित हो सकते हो? क्या तुम उन्हें प्रोत्साहन दे सकते हो? क्या तुम उनकी भलाई के उपायों का चिन्तन कर सकते हो? क्या तुम उनकी समृद्धि के लिए प्रार्थना कर सकते हो? दूसरे शब्दों में क्या तुम उन्हें अपना नि:स्वार्थ प्रेम प्रदान कर सकते हो? यदि ऐसा है, तो निश्चय ही तुम भी लोगों का प्रेम हासिल कर सकते हो।

क्या तुम एक विद्वान् या महान् चिन्तक बनना चाहते हो? इसके लिए तुम्हें अपने पाठ्य विषय के प्रति प्रगाढ़ प्रेम विकसित करना आवश्यक होगा। एक बार अपने चयनित विषय के प्रति तीव्र प्रेम का विकास हो जाने पर तुम स्वयं देखोगे कि तुम्हारे सम्मुख नये क्षितिज और नये विचार क्रमश: खुलने ही जा रहे हैं।

क्या तुम स्वस्थ और सबल होना चाहते हो? इसके लिए अपने आसपास के लोगों को प्रेम तथा स्नेह की दृष्टि से देखो। सम्पूर्ण प्रकृति, वनस्पतियों एवं जीव-जन्तुओं के प्रति प्रेमपूर्ण दृष्टि रखो। इसका तुम्हारे अन्तर्मन तथा रक्त-कोशिकाओं पर स्वास्थ्यवर्धक प्रभाव होगा। यदि तुम घृणाभाव का पोषण तथा प्रसार करोगे, तो तुम्हारा शरीर-मन विषाक्त हो जायेगा।

हाँ, केवल प्रेम ही खून में सर्वाधिक हितकर और स्वास्थ्यकर रासायनिक परिवर्तन उत्पन्न करता है। तो जीवन को एक सुखमय जीवन-यात्रा बना लेने के आदर्श मार्ग के विषय में क्या अब भी तुम्हारे मन मे कुछ सन्देह है? ❖ (क्रमश:) ❖

हितोपदेश की कथाएँ (४)

(पिछले अंकों में आपने पढ़ा कि एक बहेलिए ने आकर जंगल में जाल फैला दिया। बाद में कबूतरों का एक झुण्ड चावल के लोभ में नीचे उतरकर जाल में फँस गया। बहेलिए के आने के पूर्व ही वे जाल के साथ ही ऊपर उड़ गये। कबूतरों का राजा चित्रग्रीव उन्हें अपने मित्र हिरण्यक नामक चूहे के पास ले गया, जिसने जाल को काटकर कबूतरों को मुक्त कर दिया। लघुपतनक नामक कौआ सब देख रहा था। उसने भी बहुत अनुनय-विनय करके हिरण्यक चूहे से मित्रता जोड़ ली। वहाँ भोजन का अभाव रहता था, अत: दोनों दण्डक वन मे स्थित कर्पूरगौर नामक तालाब में रहनेवाले मन्थर नामक कछुवे से मिलने चल पड़े। मन्थर द्वारा हिरण्यक चूहे से वहाँ आने का कारण पूछने पर वह बोला .....)

कथा ४

चम्पा नाम की नगरी में संन्यासियों का एक आश्रम है। वहाँ चूड़ाकर्ण नाम का एक संन्यासी रहता है। वह भोजन से बची सामग्री खूँटी पर टाँगकर सोया करता था। मैं (चूहा) रोज उछलकर उस अन्न को खाता था। कुछ दिन बाद उसका परम प्रिय मित्र वीणाकर्ण नामक संन्यासी आया। उससे बातचीत करता हुआ वह मुझे डराने हेतु बीच बीच में अपनी फटे-पुराने बाँस के डण्डे को जमीन पर पीटता जाता था। वीणाकर्ण ने पूछा – "मित्र! तुम्हारा मन मेरी बातों को छोड़कर कहीं अन्यत्र लगा हुआ है?" चूड़ाकर्ण ने कहा – "मैं तुम्हारी बातें सुन रहा हूँ, परन्तु देखो यह दुष्ट अपकारी चूहा सदा कूद-कूदकर मेरे भिक्षान्न खा जाया करता है।" इस पर वीणाकर्ण ने खूँटी की ओर देखकर कहा – "इतना कम बल होते हुए भी यह उछलकर इतनी ऊँचाई तक कैसे पहुँच जाता है। अवश्य इसमें कोई-न-कोई भेद है। इस चूहे में इतना बल होने का कोई-न-कोई कारण अवश्य है।"

संन्यासी ने थोड़ी देर सोचने के बाद कहा – "धन की अधिकता ही कारण होगा। क्योंकि – संसार में धनवान मनुष्य सदा से बलवान रहते आये हैं। क्योंकि राजाओं को भी तो धन के प्रताप से ही प्रभुता प्राप्त होती है।"

इसके बाद उसने खन्ती उठाकर मेरा बिल खोद डाला और मेरा सारा धन ले लिया। तभी से मैं शक्ति एवं उत्साह से रहित होकर पेट भर भोजन जुटाने में भी असमर्थ हो गया और भयभीत होकर जब मैं धीरे धीरे वहाँ से जाने लगा तो चूड़ाकर्ण ने मुझे देखकर कहा – "संसार में मनुष्य धन से बलवान और धन से ही विद्वान् बनता है। इस पापी चूहे को देखो, अब वह अपनी जातिवालों के समान हो गया है। कहा है, 'धन एवं बुद्धि से हीन व्यक्ति की सब क्रियाएँ वैसे ही नष्ट हो जाती हैं जैसे ग्रीष्मकाल में छोटी नदियाँ सूख जाती हैं।'

और भी कहा है –

अपुत्रस्य गृहं शून्यं सन्मित्ररहितस्य च ।
मूर्खस्य च दिशः शून्याः सर्वशून्या दरिद्रता ।।

– 'पुत्रों और अच्छे मित्रों के अभाव में घर सूना रहता है। मूर्ख के लिए सभी दिशाएँ शून्य रहती हैं और निर्धन व्यक्ति के लिए तो पूरा ब्रह्माण्ड ही सूना रहता है।'

'वे ही इन्द्रियाँ, वही तीक्ष्ण बुद्धि और वही वाणी: सब कुछ वही रहता है, पर धन की गर्मी चली जाने से व्यक्ति क्षण भर में ही दूसरा बन जाता है। यह कितनी विचित्र बात है।' "

ये बातें सुनकर मैंने सोचा – "अब मेरा यहाँ रहना ठीक नहीं है। और रही लोगों से अपना दुखड़ा सुनाने की बात, सो भी मैंने उचित नहीं समझा। क्योंकि –

अर्थनाशं मनस्तापं गृहे दुश्चरितानि च ।
वञ्चनं चापमानं च मतिमान्न प्रकाशयेत् ।।

– 'धन का नाश, मन का दु:ख, घर के दोष, ठगा जाना तथा अपमानित होना – बुद्धिमान व्यक्ति इन्हें अन्य से न कहे।'

कहा भी है – 'विधाता जिससे विमुख हो गये हैं, प्रयत्न और पुरुषार्थ भी काम नहीं देता, ऐसे निर्धन परन्तु स्वाभिमानी व्यक्ति को वन के सिवाय अन्यत्र कहाँ सुख मिलेगा?'

मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति ।
अपि निर्वाणमायाति नाऽनलो याति शीतताम् ।।

– 'स्वाभिमानी व्यक्ति मर-मिटता है, परन्तु दीनता स्वीकार नहीं कर सकता। जिस प्रकार अग्नि बुझ भले ही जाय, परन्तु जब तक जलेगी तब तक ठण्डी नहीं हो सकती।'

और भी – 'फूलों के गुच्छों की भाँति स्वाभिमानी व्यक्ति के लिए दो ही मार्ग होते हैं, या तो वह लोगों के सिर पर चढ़कर रहता है और नहीं तो वन में ही सूख जाता है।' और यहीं भिक्षा माँगकर जीवनयापन करना भी बड़ा निन्द्य है। क्योंकि –

वरं विभवहीनेन प्राणैः संतर्पितोऽनलः ।
नोपचारपरिभ्रष्टः कृपणः प्रार्थितो जनः ।।

– 'निर्धन हो जाने पर व्यक्ति का अग्नि में प्रवेश कर लेना ठीक है, पर अशिष्ट कंजूस से धन माँगना ठीक नहीं।'

'निर्धन होने पर व्यक्ति को लज्जा घेरती है। लज्जा आने पर पुरुषार्थ नष्ट हो जाता है। पुरुषार्थ के अभाव में वह सर्वत्र अपमानित होता है और अपमानित होने पर ग्लानि होती है, ग्लानि होने पर शोक होता है और शोक होने पर उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। बुद्धि नष्ट हो जाने पर व्यक्ति स्वयं नष्ट हो जाता है। ओह! निर्धनता में सब विपत्तियों का निवास है।'

वरं शून्यं शाला न च खलु वरो दुष्टवृषभो
वरं वेश्या पत्नी न पुनरविनीता कुलबधूः।
वरं बासोऽरण्ये न पुनरविवेकाधिपपुरे
वरं प्राणत्यागो न पुनरधमानामुपगमः।।

– 'गोशाला सूनी पड़ी रहे सो ठीक है, पर दुष्ट बैल का रहना ठीक नहीं है। वन में रहना ठीक है, पर अविवेकी राजा के राज्य में रहना ठीक नहीं। प्राण त्याग देना ठीक है, पर नीचों के साथ रहना ठीक नहीं।'

और – 'जैसे नौकरी सम्मान को, चाँद अँधेरे को, बुढ़ापा सौन्दर्य को और विष्णु तथा शिव की कथा पाप को नष्ट कर देती है, वैसे ही याचना सैकड़ों गुणों को नष्ट कर देती है।'

"ऐसा विचार करके भी क्या मैं दूसरों के दिये हुए अन्न से अपने शरीर को जीवित रखूँ? ओह! यह तो बड़े कष्ट की बात है, यह तो मृत्यु का दूसरा द्वार है। क्योंकि 'रोगी, लम्बे काल तक परदेश में रहनेवाले तथा दूसरे के घर सोनेवाले व्यक्ति का जीना ही मृत्यु के समान है और मृत्यु ही उसका विश्राम है।'

"ऐसा विचार करके भी मैंने लोभवश फिर एक बार अपना धन वापस पाने के लिए प्रयास किया। कहा भी है –

लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम्।
तृषार्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः ।।

– 'लोभ से बुद्धि चञ्चल होती है और तृष्णा बढ़ती है; तृष्णा से आकुल व्यक्ति इहलोक-परलोक दोनों जगह दुखी रहता है।'

"इसके बाद मैं धीरे धीरे बढ़ ही रहा था कि वीणाकर्ण ने बाँस के पुराने टुकड़े से मुझे मार दिया। तब मैं सोचने लगा –

धनलुब्धो त्वसन्तुष्टोऽनियतात्माऽजितेन्द्रियः।
सर्वा एवापदस्तस्य यस्य तुष्टं न मानसम् ।।

– 'धन का लोभी, तृष्णातुर, असंयमी, और इन्द्रियों का दास – ऐसे असन्तोषी व्यक्ति को सारी विपत्तियाँ घेरे रहती हैं।'

और 'जिसका मन सन्तुष्ट है, उसके पास सारी सम्पत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। जैसे कि जूते धारण किये हुए व्यक्ति के लिए मानो समस्त पृथ्वीमण्डल चमड़े से ढँका रहता है।'

संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितचेतश्च धावताम् ।।

– 'सन्तोषरूपी अमृत से तृप्त शान्त चितवाले व्यक्ति को जो सुख होता है, वह सुख धन के लोभ से इधर-उधर भटकनेवालों को भला कैसे मिल सकता है?'

तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम्।
येनाशाः पृष्ठतः कृत्वा नैराश्यमवलम्बितम् ।।

– 'वास्तव में उसी ने शास्त्र पढ़ा, सुना और आचरण में लाया है, जिसने आशा को छोड़कर निराशा को अपना लिया है।'

'तृष्णा से आकुल व्यक्ति के लिए सैकड़ों मील की दूरी भी दूरी नहीं है। परन्तु जिसे सन्तोष हो गया है, वह तो हाथ में आये हुए धन का भी सम्मान नहीं करता।'

"अतः इस समय परिस्थिति के अनुसार कार्य का निर्णय लेना ही उचित है।

को धर्मो भूतदया किं सौख्यमारोगिता जगति।
कः स्नेहः सद्भावः किं पाण्डित्यं परिच्छेदः ।।

– 'धर्म क्या है? – सब जीवों पर दया करना। सुख क्या है? – सदा निरोगी जीवन। प्रेम क्या है? – अच्छी भावना और पाण्डित्य क्या है? – उचित निर्णय।'

परिच्छेदो हि पाण्डित्यं यदापन्ना विपत्तयः।
अपरिच्छेदकर्तृणां विपदः स्युः पदे पदे ।।

– 'विपत्ति आने पर सही निर्णय लेना ही पाण्डित्य है। उचित विचार न करनेवाले को पग पग पर विपत्तियाँ आती रहती हैं।'

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे स्वात्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत् ।।

– 'कुल के कल्याण हेतु एक को त्याग दे, ग्राम के कल्याणार्थ सारे कुल को त्याग दे, जिले के कल्याणार्थ गाँव को त्याग दे और आत्मा के कल्याणार्थ पृथ्वी को ही त्याग देना चाहिए।'

'बाघ और बड़े बड़े हाथियों से भरा हुआ जंगल अच्छा है, पेड़ के पके फल और जल पर दिन काट लेना भी बुरा नहीं, घास पर सोना और पेड़ की छाल पहनना भी ठीक है, पर अपने सम्बन्धियों के बीच निर्धन होकर रहना ठीक नहीं।'

"इसके बाद मेरे पूर्व पुण्यों के उदय से इस मित्र (कौए) ने प्रेम करके मुझ पर कृपा की और अब पुण्यों की परम्परा से मुझे स्वर्ग के सदृश आपका आश्रय मिल गया। क्योंकि –

संसारविषवृक्षस्य द्वे एव रसवत्फले।
काव्यामृतरसास्वादः संगमः सुजनैः सह ।।

– 'संसार रूपी विषवृक्ष के दो ही सरस फल हैं, एक तो काव्य रूपी अमृत का आस्वाद और दूसरा सज्जनों की संगति।'

मन्थर कछुए ने कहा –

अर्थाः पादरजोपमा गिरिनदीवेगोपमं यौवनं
आयुष्यं जललोलबिन्दुचपलं फेनोपमं जीवनम्।
धर्मं यो न करोति निन्दितमतिः स्वर्गार्गलोद्घाटनं
पश्चात्तापयुतो जरापरिगतिः शोकाग्निना दह्यते ।।

– 'धन पैर की धूलि के समान है, जवानी पहाड़ी नदी के वेग की भाँति है, आयु जल की चंचल बूँद की तरह है और जीवन फेन के सदृश है। ऐसा होने पर भी जो क्षुद्रबुद्धि मनुष्य स्वर्ग का द्वार खोलनेवाला धर्म-कार्य नहीं करता, वह बुढ़ापा आने पर पछताता हुआ शोकरूपी अग्नि में झुलसता रहता है।'

तुमने अति संचय किया था, उसी का यह दोष है, सुनो –

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसम् ।।

– 'कमाये हुए धन का त्याग करना ही उसकी रक्षा करना है। जिस तरह कि तालाब भर जाने पर उसमें से जल बहता रहे, इसी में उसकी अच्छाई है।'

'जो कंजूस अपने धन को धरती में गाड़ता है, वह मानो पहले से ही उसके रसातल में भेजने का रास्ता बना देता है।' और – 'जो अपने सुख की कीमत पर धन बटोरने की इच्छा करता है, वह मानो दूसरों का धन लादनेवाला गधा बनकर दुखभागी होता है।' फिर यह भी कहा है, 'यदि दान और भोग से रहित धन से ही लोग धनी कहलाते हों, तो हम दूसरों के घर में रखे धन से अपने को धनी क्यों न मान लें।'

दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम्।
वित्तं त्यागनियुक्तं दुर्लभमेतच्चतुष्टयं लोके ।।

– 'ये चार बातें संसार में दुर्लभ हैं – मधुर बातों के साथ दान, गर्वहीन ज्ञान, क्षमायुक्त वीरता और दानयुक्त धन।'

"अत: मनुष्य को संचय सदा करना चाहिए, पर अतिसंचय नहीं। देखो – संचय करनेवाला सियार धनुष से मर गया।"

उन दोनों (चूहे और कौए) ने पूछा – "यह कैसे?"

मन्थर (कछुआ) कहने लगा –

कथा ५

कल्याण-कटक देश में भैरव नाम का एक व्याध रहता था। वह एक बार शिकार खोजते खोजते विंध्यवन में गया। वहाँ उसने एक मृग मारा और उसे लेकर चला तो एक बड़ा भारी सूअर दिखाई दिया। मृग को जमीन पर रखकर उसने धनुष चढ़ाकर बाण से सुअर को मारा। सूअर ने भी मेघ की तरह गर्जन करके उस व्याध के अण्डकोश में ऐसा दाँत मारा कि वह कटे हुए वृक्ष की भाँति पृथ्वी पर गिर पड़ा। क्योंकि – 'जल, आग, विष, शस्त्र, भूख, रोग या पर्वत से पतन – इनमें से कोई भी बहाना लेकर प्राणी मरता है।'

फिर शिकारी और सूअर के बीच में आकर एक साँप भी मर गया। अब खाने की तलाश में निकला दीर्घराव नामक सियार वहाँ आ पहुँचा। उसने वहाँ उन मरे हुए मृग, शिकारी, साँप तथा सूअर को पड़े देखा। वह सोचने लगा – "अहो, आज तो मुझे बहुत सारा भोजन मिल गया। 'जैसे प्राणियों पर अप्रत्याशित रूप से सहसा दु:ख आ पड़ता है, वैसे ही सुख भी आ जाते हैं। मेरे विचार से इसमें भाग्य ही प्रधान है।'

"अस्तु, इनके मांस से मेरे तीन महीने सुख से बीत जायेंगे। एक महीना तो मनुष्य के मांस से, दो महीने मृग तथा सूअर से तथा एक दिन सर्प के मांस से बीतेगा। और आज तो मुझे इस धनुष के ताँत को खाकर ही बिता देना चाहिए।

"तो पहली भूख में धनुष में लगी इस सूखी डोरी को ही खाता हूँ।" ऐसा कहकर वह उसे खाने लगा। उसके ऐसा करने पर जब ताँत की डोरी टूटी, तो धनुष उड़कर उस गीदड़ की छाती में जा लगा, जिससे दीर्घराव सियार वहीं मर गया। इसीलिए कहता हूँ – 'संचय नित्य करना चाहिए ...' आदि।

'जो धन तुम सुयोग्य व्यक्तियों को देते हो या प्रतिदिन भोग करते हो, उसी को मैं तुम्हारा धन मानता हूँ। बाकी धन की तो मानो तुम किसी दूसरे के लिए रक्षा कर रहे हो।'

"जाने दो। बीती बात सोचने से क्या लाभ? क्योंकि –

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्स्वपि न मुह्यन्ति नरा: पण्डितबुद्धय: ।।

– 'समझदार लोग अप्राप्य वस्तु की अभिलाषा नहीं करते, नष्ट वस्तु के बारे में सोचते नहीं और विपत्तियों में घबड़ाते नहीं।'

"अत: हे मित्र! तुम सदा उत्साहपूर्वक रहो। क्योंकि –

शास्त्राण्यधित्यपि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान् पुरुष: स विद्वान्।
सुचिन्तितं चौषधमातुराणां
न नाममात्रेण करोत्यरोगम् ।।

– 'शास्त्र पढ़नेवालों में भी मूर्ख पाये जाते है, वस्तुत: विद्वान् तो वही है जो शास्त्रानुकूल आचरण करता है। क्योंकि किसी औषधि का चाहे जितना भी ध्यान किया जाय, पर इतने से ही वह नीरोग नहीं कर देती। (उपयोग करने पर ही करेगी।)'

'जैसे अन्धे के हाथ में रखा हुआ दीपक भी उसे उसकी इच्छित वस्तु दिखाने में समर्थ नहीं हो सकता, वैसे ही शास्त्र-ज्ञान भी निरुद्यमी व्यक्ति को कोई लाभ नहीं पहुँचा सकता।'

"इसलिए हे मित्र! तुम अपनी इस विशेष दशा में शान्ति धारण करो। इसे तुम बहुत बड़ा कष्ट न मानो। क्योंकि – 'राजा, कुलवधू, ब्राह्मण, मंत्री, मेघ, दाँत, केश, नख और मनुष्य – ये अपने स्थान से च्युत होकर भले नहीं लगते।'

"ऐसा समझकर अपना स्थान न छोड़े, यह कायरों की बात है। क्योंकि – 'सिंह, भले व्यक्ति और हाथी अपना स्थान छोड़कर चले जाते हैं। परन्तु कौए, कायर पुरुष और मृग अपने स्थान से चिपके रहकर ही मर जाते हैं।'

'वीर तथा स्वाभिमानी व्यक्ति के लिए कौन-सा अपना देश है और कौन-सा परदेश! वह जिस जगह भी रहता है, वहीं अपने बाहुबल से उपार्जन कर लेता है; जैसे नख, दाँत तथा पूँछ रूपी शस्त्रों से युक्त सिंह जिस भी वन में जाता है, वहीं मारे हुए मतवाले हाथियों के रुधिर से प्यास बुझा लेता है।'

निपानमिव मण्डूका: सर: पूर्णमिवाण्डजा: ।
सोद्योगं नरमायान्ति विवशा: सर्वसम्पद: ।।

– 'जैसे तालाब में मेढक और जल से भरे हुए सरोवर में पक्षी अपने आप ही आ जाते हैं, वैसे ही उद्योगी पुरुष के पास सारी सम्पत्तियाँ खिंची चली आती हैं।'

सुखमापतितं सेव्यं दु:खमापतितं तथा ।
चक्रवत्परिवर्तन्ते दु:खानि च सुखानि च ।।

– 'आये हुए सुख के समान ही आये हुए दुख का भी सेवन करना चाहिए, क्योंकि सुख व दुख चक्रवत् घूमते रहते हैं।'

उत्साह सम्पन्नमदीर्घसूत्रं
क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च
लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः ।।

– 'उत्साही, शीघ्र कार्य निपटानेवाले, कार्यविधि के ज्ञाता, व्यसनों से रहित, वीर, कृतज्ञ तथा पक्की मित्रता निभानेवाले व्यक्ति के पास निवास करने को लक्ष्मी स्वयं आ जाती है।'

'धन के बिना भी वीर पुरुष बहुत मान और उन्नति के पद पर पहुँच जाता है, परन्तु कृपण स्वभाव का मनुष्य धन होते हुए भी तिरष्कृत होता है। क्या सोने की माला पहननेवाला कुत्ता भी, सिंह के गुणों से प्राप्त होनेवाले स्वभावतः उत्पन्न तेज को कभी नहीं पा सकता।'

'मैं धनवान हूँ' – यह सोचकर मैं अहंकार क्यों करूँ? और धन का नाश हो जाने पर मैं शोक क्यों करूँ? क्योंकि हाथ से मारे हुए गेंद के उठने-गिरने के समान मनुष्य की भी उन्नति-अवनति होती रहती है।

'मेघ की छाया, दुष्ट का प्रेम, नया अन्न, स्त्री, यौवन और धन – ये थोड़े समय के लिए ही उपभोग्य होते हैं।'

वृत्त्यर्थं नातिचेष्टेत सा हि धात्रैव निर्मिता ।
गर्भादुत्पतिते जन्तौ मातुः प्रस्रवतः स्तनौ ।।

– 'व्यक्ति को आजीविका के लिए बहुत चिन्तित होने की जरूरत नहीं, क्योंकि उसे विधाता ने पहले ही बना रखा है। प्राणी के जन्म लेते ही माता के स्तनों से दूध बहने लगता है।'

"और, मित्र! 'जिस ईश्वर ने हंसों को श्वेत तथा तोतों को हरा बनाया है और मोरों को अनेक रंगों से सजाया है, वही तुम्हारी आजीविका का भी प्रबन्ध कर देगा।'

"और सज्जनों के रहस्य की बात सुनो –

'जो धन कमाते समय दुख देता है, खो जाने पर कष्ट देता है और एकत्र हो जाने पर मतवाला बना देता है, वह धन भला सुखदायी कैसे हो सकता है!'

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।
प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ।।

– 'जो व्यक्ति धर्म करने हेतु धन चाहता हो, उसे चाहिए कि वह धनी होने की इच्छा त्यागकर विरक्त बना रहे। क्योंकि पाँव को कीचड़ में डुबाकर उसे धोने की अपेक्षा उसे कीचड़ से दूर रखना ही अच्छा है।

क्योंकि 'जैसे मांस को आकाश में पक्षी, पृथ्वी पर सिंह आदि मांसाहारी जीव और जल में नाक-घड़ियाल आदि जन्तु खाते हैं, वैसे ही धनी मनुष्य भी सब तरफ से नोचा जाता है।'

'जैसे जगत् के सभी जीवों को मृत्यु का भय बना रहता है, वैसे ही धनी व्यक्ति को राजा, जल, चोर और अपने भाई-बन्धुओं से भी भय बना रहता है।'

और – 'इस क्लेशमय जीवन में इससे बढ़कर दुख और क्या होगा कि एक तो अपनी इच्छा के अनुकूल धन नहीं मिलता और दूसरी ओर इच्छाएँ भी दूर नहीं होतीं।'

"और सुनो, भाई – 'एक तो धन सहज ही मिलता नहीं और मिलने पर भी बड़ी मुश्किल से उसकी रक्षा होती है। फिर यदि किसी प्रकार उस धन का नाश हो जाय, तो मृत्यु के समान दुख होता है। अतः धन की चिन्ता ही न करे।'

तृष्णां चेह परित्यज्य को दरिद्रः क ईश्वरः ।
तस्याश्चेत् प्रसरो दत्तो दास्यं च शिरसि स्थितम् ।।

– 'यदि तृष्णा को त्याग दिया जाय तो दरिद्र और धनवान में कोई भेद नहीं रह जाता। किन्तु उस तृष्णा को यदि थोड़ा भी मौका मिला, तो गुलामी सिर पर सवार हो जाती है।'

और 'आदमी जैसे जैसे इच्छा करता है, वैसे वैसे इच्छाएँ बढ़ती जाती हैं और जिस वस्तु से इच्छा दूर हो जाती है, उसी को वास्तव में प्राप्त हुआ समझो।'

"अब मैं ज्यादा क्या कहूँ? अब तुम मेरे ही साथ रहकर आनन्दपूर्वक बिताओ। क्योंकि –

आमरणान्ताः प्रणयाः कोपास्तत्क्षणभङ्गुराः ।
परित्यागाश्च निःसङ्गा भवन्ति हि महात्मनाम् ।।

– 'महात्माओं का प्रेम आजीवन बना रहता है; क्रोध क्षण मात्र के लिए होता है और उनका त्याग निःस्वार्थ भाव से होता है।'

यह सुनकर लघुपतनक कौए ने कहा – "मन्थर! तुम धन्य हो, तुम्हारे गुण हर तरह से प्रशंसनीय हैं। क्योंकि –

सन्त एव सतां नित्यमापदुद्धरणक्षमाः ।
गजानां पङ्कमग्नानां गजा एव धुरन्धराः ।।

– 'सज्जन लोग ही सज्जनों को उबारने में समर्थ होते हैं। दलदल मे फंसे हाथी को हाथी ही बाहर निकाल सकते हैं।'

श्लाघ्यः स एको भुवि मनावानां
स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः ।
यस्यार्थिनो वा शरणागता वा
नाशाभिभङ्गाद्विमुखाः प्रयान्ति ।।

– 'संसार के मनुष्यो में एकमात्र वही प्रशंसनीय है, वही उत्तम पुरुष है और वही सज्जन है, जिसके पास से याचक अथवा शरणार्थी निराश होकर नही लौटते।' "

इस तरह वे (तीनों – हिरण्यक चूहा, लघुपतनक कौआ तथा मन्थर कछुआ) स्वेच्छापूर्वक आहार-विहार करते हुए आनन्दपूर्वक रहने लगे। इसी बीच चित्रांग नामक मृग किसी भय से भागता हुआ आकर उनसे मिला।

❖ (क्रमशः) ❖

भगिनी निवेदिता

गोपाल प्रसाद शर्मा

(देवी निवेदिता का जन्म २८ अक्तूबर, १८६७ तथा निर्वाण १३ अक्तूबर १९११ को हुआ था। देहान्त के दो वर्ष बाद खण्डवा से श्री कालूलाल गंगराड़े के सम्पादन में प्रकाशित 'प्रभा' मासिक के प्रथम वर्ष के दिसम्बर १९१३ तथा जनवरी १९१४ के अंकों में उनके बारे में दो लेख प्रकाशित हुए थे। उनके जन्मदिवस के उपलक्ष्य में उनका पुनर्मुद्रण हो रहा है। भाषा को हमने थोड़ा सम्पादित कर लिया है। – सं.)

इन परोपकारिणी देवी के नाम से प्राय: भारतवासी परिचित होंगे। हम लोगों की गिरी हुई दशा मे जो कोई हमें थोड़ा भी सहारा देता है, तो हम उसके ऋणी हो जाते हैं। कभी कभी हमारा यह गुण, दोष का रूप भी धारण कर लेता है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भगिनी निवेदिता एक योग्य आंग्ल देवी थीं। उन्होंने भारतवर्ष की सेवा निश्छल भाव से की है। किसी देवी के चरित्र को, कोई देवी ही ठीक ठीक प्रस्तुत कर सकती हैं। अत: हम भी एक देवी द्वारा लिखा हुआ यह चरित्र पाठकों के सामने रखते हैं। उन देवीजी का नाम श्रीमती अबला बोस[१] है। श्रीमती बोस एक बंग महिला हैं और भगिनी निवेदिता भी बंगाल में ही रहती थीं। बोस महाशया ने लिखा है :—

आज तेरह वर्ष हुए, एक अंग्रेज युवती मुझसे मिलने को आई थी। वह शरीर से स्वस्थ और बलवान थी। उसके चेहरे से उत्साह का तेज झलकता था। उसने आकर मुझसे कहा, "मेरी इच्छा भारत की स्त्रियों की सेवा करने की है। यह सेवा मैं बाहर रहकर नहीं करूँगी; उनके बीच में रहकर ही सेवा करने का मेरा विचार है। मैं उनकी जैसी होना चाहती हूँ और उनका-सा ही जीवन व्यतीत करना चाहती हूँ।" मेरे मन में आया कि उनके इस कार्य में अनेक विघ्न आयेंगे और इसी कारण मैंने सन्देह जताया था कि न जाने उनकी यह इच्छा पूर्ण हो सकेगी या नहीं।

हमारी इस भेंट के बाद से उस देवी के साथ मेरा प्रेमभाव बढ़ने लगा और बारम्बार मिलने से मेरा चित्त उनसे जुड़ गया। धीरे धीरे मैंने जाना कि मिस मार्गरेट नोबल (भगिनी निवेदिता) महा-मनोबल वाली नारी हैं। इनसे जो कोई भी मिलता है, उसे बड़ा लाभ प्राप्त होता है। इन्होंने किस प्रकार हमारी मातृभूमि की सेवा की है, यह कहने का यद्यपि समय नही आया है, तो भी उनके व्यक्तित्व ने मुझ पर जो कुछ प्रभाव डाला है और उनकी जो पवित्र झाँकी मेरे हृदय में उतरी है, उसका वर्णन इस प्रकार है :—

भगिनी निवेदिता के जीवन की रचना सहसा नहीं हो गई थी! उनके पिता इंग्लैंड में एक धर्मगुरु थे। वे एक उच्च कोटि के वक्ता थे और उनके होनहार होने की बड़ी आशा थी; परन्तु उन्होंने अपना स्वार्थ त्याग कर अपना जीवन मानचेस्टर नगर के निर्धनों की सेवा में बिताया। पिता-पुत्री के बीच बड़ा स्नेह था। निवेदिता के पिता के एक मित्र, जो भारत में पादरी रह चुके थे, एक दिन उनके घर आए। निवेदिता के चेहरे पर धार्मिकता की किरणे फैली देखकर उन्होंने आशीर्वाद देते हुए कहा, "यह लड़की हिन्दुस्तान की सेवा करेगी।" उनका यह कथन अक्षरश: सत्य निकला। मृत्यु के समय उनके पिता ने अपनी पत्नी से कहा था, "जब यह लड़की हिन्दुस्तान की सेवा करने का विचार करे तो इसे न रोकना और जहाँ तक बन सके इसके उस शुभ कार्य में मदद करना।" इस प्रकार निवेदिता स्वभाव से ही इस शुभ काम के लिए उत्पन्न हुई थीं। आखिरकार निवेदिता ने हिन्दुस्थान की सेवा के लिए जाने का विचार किया। अकेली लड़की मुझे छोड़कर जा रही है, यह सोचकर माँ का कोमल हृदय भर आया। पर अपने पति के वचन का स्मरण आने से उनके हृदय में बल आया; और तभी से जैसे बेटी भारत-भक्त बनी थी, वैसे ही माँ भी बन गई। जो कोई हिन्दुस्तानी इनके घर पर मिलने जाता था, दोनों ही उसका बड़ा सत्कार करती थीं।

बचपन से ही निवेदिता के मन की शक्तियाँ बड़े उच्च कोटि की प्रतीत होती थीं। हक्सले जैसे विद्वान् भी उनकी असाधारण बुद्धि को देखकर चकित हो गये थे, कुछ दिनो बाद वे शिक्षा के लिए स्थापित एक संस्था की नेत्री हुई और इसके बाद संस्था के द्वारा एक क्लब का गठन हुआ। जब उनके इंग्लैंड में प्रसिद्ध होने का अवसर आया, तभी उनके हिन्दुस्तान आने की भूमिका बनी। उस समय स्वामी विवेकानन्द के लन्दन मे धार्मिक व्याख्यान चल रहे थे। उनके आह्वान के उत्तर में इस देवी ने हिन्दुस्तान की सेवा करने की इच्छा प्रगट की और शीघ्र ही स्वामीजी की शिष्या बनकर हिन्दुस्थान की तरफ चल निकली।

मेरा ऐसा विश्वास था कि भगिनी निवेदिता पुराने विचारो की महिलाओ के बीच रहकर शिक्षा देने का अपना मनोरथ पूर्ण न कर सकेंगी। अत: अपनी पहली भेंट के समय मैंने उनके विफल-मनोरथ होने की आशंका व्यक्त की थी। इसके थोड़े ही दिन बाद देवी निवेदिता ने मुझे अपने बोसपाड़ा लेन के मकान में आने के लिए आमंत्रित किया। उसके घर पहुँचते ही मुझे पता चला कि जो काम न होने की सम्भावना थी, उसी

१. ये सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जगदीश चन्द्र बोस की धर्मपत्नी थीं। अपने जीवन के कुछ अन्तिम दिन इन्ही बोस-दम्पति के दार्जिलिग स्थित गृह मे बिताने के बाद भगिनी निवेदिता ने वही अन्तिम सांस ली थी। – सं.)

को निवेदिता ने कर डाला है। उन्होंने पुराने विचारवाली महिलाओं में प्रवेश किया है। पहले तो उन्हें कोई हिन्दू नौकर या रसोइया ही नहीं मिल सका, क्योंकि पर-कौम का नौकर रखकर वे अपने हिन्दू पड़ोसियों के चित्त को दुखाना नहीं चाहती थीं। इसीलिए रसोई बनाना न मालूम होने के कारण कुछ दिन उन्होंने केवल फल खाकर ही गुजारा किया। जब पड़ोसियों को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने भोजन देने का प्रबन्ध करा दिया और उसका इतना सत्याग्रह देखकर थोड़े ही दिनों में पड़ोसी लोग उन्हें अपनी ही जानने लगे तथा उनका इन पर ऐसा विश्वास बैठ गया कि पुराने विचार के धार्मिक लोग भी इसके घर अतिथि बनने में पाप नहीं समझने लगे।

केवल धैर्य और प्रेम के द्वारा वे लोगों के हृदय में धीरे धीरे किस प्रकार इतना बड़ा विश्वास पैदा कर सकीं, यह एक बड़ी अद्भुत बात है! पहले तो पड़ोसियों के छोटे छोटे लड़के इनके यहाँ आने लगे, उन्हें आते देखकर इन्होंने अपने मकान में बच्चों के लिए खेल-सम्बन्धी एक 'किन्डर-गार्टन' विद्यालय खोल दिया। बच्चों का आना-जाना देख कर उनकी माताएँ भी आने लगीं, धीरे धीरे उन्होंने इन लोगों के पढ़ने की भी व्यवस्था कर दी। उनका मृदु और परोपकारी स्वभाव देखकर सर्व-साधारण हिन्दुओं का आवागमन होने लगा।

भगिनी निवेदिता को अनाथ बालक और निराश्रय विधवाओं पर बड़ी दया आती थी और वे उनकी निरन्तर मदद किया करती थीं। अनाथ बालक तथा विधवाएँ पढ़कर कैसे अपने बूते पर अपना गुजारा कर सकें, इसी दृष्टि से वे उन्हें शिक्षा देती थी और उन्हीं में से पढ़े हुए शिक्षक और शिक्षिकाएँ तैयार करके अपनी शाला में उनसे मदद लेती थी। इस प्रकार शिक्षा का प्रबन्ध करते करते उन्होंने पुराने विचार के लोगों के बीच में 'सेवा-सदन' और 'वनिताश्रम' के रूप में दो बड़े संस्थान बनाए। भारत में अब क्रमश: उनके इन पवित्र और नि:स्वार्थ कार्यों की प्रशंसा होने लगी। यूरोप और अमेरिका के बड़े बड़े लोग भी इनके आश्रम को देखने के लिए आने लगे। परोपकार की दृष्टि से पराए देश को अपना जानकर उसी की सेवा में मग्न रहती एक अंग्रेज-स्त्री को देखकर वे लोग चकित ही नहीं होते थे, वरन् उनका भारत के प्रति प्रेम देखकर उन लोगों का भी इस देश पर स्नेह बढ़ जाता था।

अपने आश्रमों की व्यवस्था के लिए वे किसी से भी धन नहीं लेती थीं। उनकी लिखी हुई पुस्तकों की आमदनी से और विलायत में एक महिला जो इन्हें अपनी पुत्री मानती थीं, उनकी मदद से ही इनके आश्रम तथा पाठशाला का खर्च चलता था। उनकी मित्र-मण्डली तथा पड़ोसी जानते हैं कि अपनी आमदनी का बहुत-सा भाग वे निराश्रयों की मदद करने में और भूखों को भोजन देने में खर्च कर देती थीं। उनका स्वभाव इतना दयालु था कि वे अपने निर्वाह के लिए कुछ भी न रखकर, सब परोपकार में खर्च कर डालती थीं।

एक नागरिक के रूप में मेरे क्या कर्तव्य हैं – इसका इन्हें ध्यान था। इसी कारण उनके आचार-विचार का आस-पड़ोस के लोगों पर ऐसा सबल प्रभाव हुआ कि उन लोगों के रहने के मकान और आसपास का स्थान स्वच्छ तथा सुहावना रहने लगा। यह साधारण बात नहीं है, क्योंकि पहले तो आजकल कम लोग ही स्वच्छता से रहना जानते हैं, तिस पर नागरिक रीति से स्वच्छ रहना तो और भी कठिन है, पर देवी निवेदिता में वह दैवी शक्ति थी, जिससे उन्हं.ने लोगों को समझा-समझाकर नागरिक बना ही लिया।

इसी बीच में कलकत्ते में प्लेग का आगमन हुआ। इस प्लेग का आतंक अभी तक लोगों को नहीं भूला है। स्टीमर और रेलगाड़ियाँ, नगर छोड़कर भागते हुए लोगों से भरी हुई देखने में आती थीं। जिस समय शहर में ऐसा आतंक फैला हुआ था, उस समय देवी निवेदिता पुण्य और दया के भारतीय क्षेत्र में अवतीर्ण हो गईं। उन्होंने परोपकारी नवयुवकों का एक मण्डल स्थापित किया। शहर का उत्तरी भाग बड़ा गन्दा था, इस टोली की सहायता से उन्होंने उसे स्वच्छ कराया। यह जानते हुए भी कि प्लेग का रोग छूने से शरीर में लग जाता है, उसकी परवाह न करते हुए, बीमार लोगों की सेवा और खबर लेने का कठिन तथा भयंकर काम उन्होंने अपने ऊपर लिया। प्लेग से बीमार बालकों ने उनकी गोद में ही प्राण छोड़े थे। उस समय मानो ये देवी ही उनकी माता थीं। भारतवासियों को अपना सगा जानकर उनकी सब तरह की बातें सहना उनका प्रधान गुण था। एक बार निवेदिता ठण्ढ से थर थर काँप रही थीं; परन्तु अपने नौकर को ठण्ढ से पीड़ित देखकर उन्होंने यह सोचकर उसको अपना कम्बल दे दिया कि उसकी मुझसे अधिक इसे जरूरत है। दूसरों को सुख में रखकर उसके बदले वे स्वयं दुख सहना पसन्द करती थीं। निवेदिता के ऐसे अनेक कार्य हुए हैं। उन्हें अपने दुखों का जरा भी ध्यान नहीं था और पड़ोसियों के दुखों को वे कभी नहीं देख सकती थीं।

पहले पहल जब वे भारत आने को तैयार हुईं, तो उसी स्टीमर पर एक अंग्रेज युवक भी यात्रा कर रहा था। वह युवक बिगड़ चुका था और इस कारण उसके माँ-बाप ने उसे घर से निकाल दिया था। वह इतनी शराब पीता कि भोजन के समय कोई भी उसके पास नहीं बैठ सकता था। स्टीमर के सब यात्री भी उसे धिक्कारते थे; परन्तु भगिनी निवेदिता को उस पर दया आती थी। वे मन में सोचने लगीं कि इस लड़के का अब क्या होगा? जिन माँ-बाप की शिक्षा से बच्चे सुधरते हैं, उन्होंने ही जब इसे निकाल दिया है, तो यह लड़का अब भारत में जाकर तो और भी बिगड़ जायगा। एक दिन अवसर पाकर उन्होने उस लड़के को एकान्त में बुलाया और स्नेहपूर्वक उसे बहुत कुछ समझाते हुए शिक्षा दी और अपने पास की कीमती चीजों

में से अपनी वर्षगाँठ पर अपनी माँ से प्राप्त एक घड़ी उस लड़के को देकर कहा, "याद रहे, यह घड़ी बेचने या गिरवी रखने के लिए नहीं दी गई है; बल्कि उस दिन को याद रखने के लिए दी गयी है, जिस दिन देश से निकाल दिया गया लड़का कुमार्ग से सुमार्ग पर आया है; यह घड़ी तू सदैव अपने पास रखना!" इस घटना के एक वर्ष बाद भगिनी निवेदिता के पास उस लड़के की माँ का लिखा हुआ एक बड़ा ही हृदय-वेधक पत्र आया, जिसमें लिखा था, "तुम्हारे दयापूर्ण संग के पश्चात् मेरे लड़के के स्वभाव में बड़ा ही परिवर्तन आ गया है। उसने अब अपनी सारी बुरी आदतें छोड़ दी हैं, वह बिल्कुल सुधर गया है और दक्षिण अफ्रिका में जाकर उसने बड़ा नाम कमाया है; परन्तु अब वह बीमारी के कारण मृत्यु के मुख में है, मरते मरते वह तुम्हारा बड़ा उपकार मानता है और बड़े ही प्रेम के साथ तुम्हारी याद करता है।"

भगिनी निवेदिता ने अपना ऐसा उदार, स्नेहपूर्ण तथा उच्च हृदय भारतवर्ष की सेवा में अर्पण कर दिया। प्लेग के समय उन्होंने बड़ा परिश्रम किया और इसी कारण वे बीमार हो गईं, इससे उनकी सब आशाएँ टूटने लगी थीं; पर ईश्वर की कृपा से थोड़े दिनों में वे स्वस्थ हो गईं। डाक्टरों ने राय दी कि अब कुछ समय तक इतना परिश्रम करना ठीक नहीं है; इससे विश्राम लेना उचित है।

परन्तु उसी समय उन्हें पता चला कि पूर्व बंगाल में बहुत बड़ा अकाल पड़ा है। जब देश में लाखों लोग दुख पा रहे हों, तब ऐसी परोपकारिणी देवी को भला कैसे चैन पड़ सकता था? उन्होंने तत्काल ही पूर्व बंगाल जाने का निश्चय किया। कीचड़ और पानी से भरे अंचलों में केवल पैदल चलकर वे बारीसाल जिले में गईं। उस समय वहाँ अकाल का जो कुछ दृश्य इन्होंने अपनी आँखों से देखा था, वह उनकी 'पूर्व बंगाल में बाढ़ तथा अकाल' नामक पुस्तक में लिपिबद्ध है। कीचड़ तथा पानी में घूमते घूमते आखिरकार उन्हें भयानक मलेरिया-बुखार हो गया। तो भी दूसरों के दुख को अपनी बीमारी से ज्यादा महत्त्व देकर वे उसी को दूर करने में लगी रहीं। बहुत दिनों बाद वे स्वस्थ हुईं और उसके बाद वे पुन: तन-मन-धन से अपने पुण्य-कार्य में लग गईं। पर उनकी उस समय की दुर्बलता जन्म भर नहीं गई। उनके चिकित्सकों तथा मित्रों ने उन्हें किसी स्वास्थ्यप्रद स्थान में जाकर रहने की सलाह दी, परन्तु जिस जगह ने उन्हें सर्वप्रथम आश्रय दिया था, उसे छोड़ना उन्हें पसन्द न था। वे कहतीं, "जिस जगह को मैंने अपनाया है, उसे छोड़ूँगी नहीं – मैं यहीं रहूँगी।" जिन छोटे बच्चों को उन्होंने घुटनों के बल चलते देखा था, वे अब बड़े हो गए थे। परन्तु वे उन्हें अपने बालकों के रूप में ही जानती थीं। बहुत-से दु:खी लोग उनके पास आया करते थे, जिन्हें वे उपदेश आदि के द्वारा आश्वस्त करके शान्ति प्रदान करती थीं।

अब मैं लिखती हूँ कि किस प्रकार एक सामान्य स्त्री की भाँति वे अपना दैनन्दिन जीवन बिताया करती थीं। सचमुच ही उनका जीवन वैराग्यमय था। सत्य व विश्वास में उनकी निष्ठा थी और सत्य से ही उनका सारा शरीर आलोकित रहता था। अन्य देश के लोग इसे भले ही किसी धुँधली दृष्टि से देखें; पर हमारे देश के लोग उसे जरूरत के समय प्राप्त महान् मानसिक एवं नैतिक शक्ति ही समझेंगे। भगिनी निवेदिता के समान पूर्ण स्वार्थ-त्याग मेरे देखने में कहीं भी नहीं आया। इंग्लैंड, फ्रांस और अमेरिका के धर्मगुरु, समाज-सुधारक तथा राज्य-अधिकारी – सभी एक स्वर से इनकी बुद्धिमता की प्रशंसा करते हैं और इन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। अपनी अद्भुत शक्ति के बल पर वे इंग्लैंड में बड़ा भारी पद प्राप्त कर सकती थीं; पर उन्होंने स्वार्थ त्यागकर, उन सब शक्तियों का उपयोग हमारे देश की सेवा में किया। भारत को तो वे मानो अपना ही देश जानती थी। ऐसा भी देखने में आया है कि 'भारत की जरूरत' या 'भारत' – ये शब्द उसके मुँह से कभी नहीं निकलते थे, वे सदा 'हमारी आवश्यकता' या 'हमारा देश' ही कहा करती थीं। इसी कारण हमें कभी ऐसा नहीं लगता था कि कोई विदेशी स्त्री हमारी मदद को आई हैं। हमें लगता था कि हमारी ही कोई उद्धारिणी भगिनी हमारे उद्धार-मार्ग में प्राण दे रही है। इन पूज्य भगिनी के विषय में थोड़ा और कहना बाकी है। लन्दन तथा न्यूयार्क के दो प्रकाशकों ने उनसे भारत-विषयक पुस्तकें लिखने का अनुरोध किया था। वे इस काम में लगी रहती थीं। इसके साथ ही वे अपने आश्रम का काम भी देखती थीं। वे बेकार कभी नहीं बैठती थीं। अपने शरीर का जरा भी ध्यान न रखकर, वे सदा काम ही किया करती थीं। बहुत परिश्रम करने से वे फिर बीमार हुई, सब लोगो की राय हुई कि दार्जिलिंग की आबोहवा से उनको लाभ होगा, अत: उनके शुभ चिन्तक उन्हें दार्जिलिंग ले गए।

कई वर्ष पूर्व एक बार मैं परदेश में बीमार पड़ी थी। तब मेरी सुध भगिनी निवेदिता ने ही ली थी। उनके बीमार होने पर मेरा हृदय भी उनके उपकार की याद दिलाकर मुझे उनकी सेवा हेतु प्रेरित करने लगा। मुझे आशा थी कि वे अवश्य ही नीरोग होंगी, परन्तु उन्हें अपनी मृत्यु का आभास मिल गया था। इतना होने पर भी उनके चेहरे पर उदासी के कोई चिह्न नहीं दिखते थे। प्रतिदिन प्रात:काल भेंट होने पर वे हँसमुख से हम लोगों के साथ बातें करती थीं। उनकी सारी बातें केवल एक ही विषय पर केन्द्रित हुआ करती थीं और वह यह था कि हमारे देश की स्त्रियों का उद्धार कैसे हो। मृत्यु के पूर्व उनके पास पुस्तकों के रूप में जो धन था, उसे भी वे भारतीय स्त्रियों की शिक्षा में सहायता हेतु दान कर गईं।

अपने स्वार्थ की जरा भी परवाह न करके उन्होंने अपना सारा जीवन परोपकार में लगा दिया। इसके बावजूद वे यही कहा करती थीं कि मानव-सेवा के लिए जितना चाहिए था, उतना आत्मदान वे नहीं कर सकी हैं। एक बार किसी ने उनसे कहा, "आप एक बड़ी सबल व्यक्ति हैं।" इस पर उन्हें बड़ा दुख हुआ और उन्होंने ईश्वर से प्रार्थना की, "हे प्रभो! तू मुझे इस दुनिया से बुला ले, ताकि दूसरे लोगों को प्रकाश में आने का अवसर मिल सके।"

दार्जिलिंग आने के पूर्व उन्होंने बौद्ध-मत के एक ग्रन्थ में से एक पद का अंग्रेजी में अनुवाद करके अपने आश्रम के लोगों को सिखाया था, जिसके अर्थ से साफ पता चलता था कि आश्रमवासियों के साथ उनकी यह अन्तिम भेंट है। वे कह चुकी थीं कि उनकी सिखाई हुई वह प्रार्थना उनकी मृत्यु के समय अवश्य गायी जाय। उनकी आज्ञानुसार वह पद गाया गया, जिसका भावार्थ यह है, "पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के रहनेवाले शत्रुरहित हों, उनके मार्ग के कण्टक दूर हों, शोक को भूलकर वे निरन्तर आनन्द में रहें और हर व्यक्ति स्वतंत्रता के साथ अपने मार्ग पर आगे बढ़े।"

इतनी बड़ी विदुषी होने पर भी उन्हें अहंकार नहीं था। प्रभु के समक्ष वे अपन मन को अज्ञानी ही समझती थीं। निम्नांकित पद जब वे गातीं, तब उनके चेहरे पर कोई अन्य आभा ही झलक उठती थी – "हे प्रभो! हम सब लोगों को माया में से मुक्त करके सत्य की ओर लाइए; अन्धकार में से प्रकाश में ले आइए; मरण में से अमरत्व में पहुँचाइए। अपने प्रयास से ही हम इस प्रभुत्व को पहुँचेंगे। इसके लिए हमें शक्ति दीजिए और सर्वोपरि, हे दयालु प्रभु! हम लोगों पर कृपा करके, हमें निरन्तर अज्ञान से दूर रखिए।"

१३ अक्तूबर को वातावरण यद्यपि स्वच्छ था पर आकाश में कहीं कहीं बादल तथा कुहरे छाये हुए थे। उस दिन भगिनी निवेदिता ने क्षीण स्वर में कहा, "मेरी जीर्ण नौका अब डूबने की तैयारी में है, पर मुझे विश्वास है कि मैं नवप्रभात देखूँगी।"

प्रात:काल हो चला था। सूर्य की किरणें दार्जिलिंग के बर्फ के पर्वतों पर पड़कर चमक रही थीं। ठीक तभी हमारी हित-कारिणी भगिनी निवेदिता की आत्मा ने इस नाशवान शरीर को छोड़कर ईश्वर के राज्य में जाने के मार्ग पर प्रस्थान किया।

❑ ❑ ❑

पुरखों की थाती (११)

आशा नाम मनुष्याणां शृंखला काचिदद्भुता ।
यया बद्धाः प्रधावन्ति मुक्ताः तिष्ठन्ति पंगुवत् ।।

– मनुष्यों को बाँधनेवाली 'आशा' नाम की एक बड़ी ही विचित्र जंजीर है। इससे बँधे हुए लोग तो दौड़धूप करते रहते हैं, जबकि इससे मुक्त हो चुके लोग अपंग की भाँति स्थिर-शान्त रहते हैं।

अज्ञानी निन्दति ज्ञानं चौरा निन्दति चन्द्रमाः ।
अधमा धर्म निन्दन्ति मुर्खाः निन्दन्ति पण्डितान् ।।

– अज्ञानी ज्ञान की निन्दा करता है, चोरगण चन्द्रमा को कोसते हैं, दुष्टजन धर्म की निन्दा किया करते हैं और मूर्खगण विद्वानों की निन्दा करते हैं।

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः ।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्यो इव षट्पदः ।।

– जैसे भौंरा सभी पुष्पों से साररूपी रस संग्रह करता है, वैसे ही बुद्धिमान व्यक्ति को छोटों, बड़ों तथा शास्त्रों – सभी से सारभूत ज्ञान ग्रहण करना चाहिए।

अस्थिरं जीवितं लोके अस्थिरे धनयौवने ।
अस्थिरा पुत्रदाराश्च धर्म-कीर्तिद्वयं स्थिरम् ।।

– संसार में धन, यौवन, पुत्र, पत्नी तथा जीवन – सब क्षणभंगुर हैं; केवल दो – धर्म तथा कीर्ति ही स्थायी हैं।

अनित्यानि शरीराणि वैभवं न च शाश्वतम् ।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ।।

– शरीर क्षणभंगुर है, धनादि भी सदा के लिए नहीं है और मृत्यु सदैव साथ लगी है, अत: पुण्यकर्म में लगे रहना ही एकमात्र कर्तव्य है।

गीता की शक्ति और मोहकता (५)

स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज (परमाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ तथा मिशन)

(अद्वैत आश्रम, मायावती से प्रकाशित होनेवाली प्रस्तुत लेखमाला के दो भाग हैं – 'गीता-अध्ययन की भूमिका' जीवन के विभिन्न प्रकार के कार्यों में व्यस्त जगत् के विचारशील लोगों का गीता से परिचय कराने हेतु है और दूसरा भाग 'गीता की शक्ति तथा मोहकता' इस महान् ग्रन्थ पर दिये गये एक उद्बोधक व्याख्यान का अनुलिखन है। इन अंग्रेजी व्याख्यानों का हिन्दी अनुवाद हम क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

क्या अमेरिका की अधोगति हो रही है और इससे कैसे बचा जा सकता है

१९७१-७२ की अपनी सुदीर्घ अमेरिका-यात्रा के दौरान वहाँ के समाचार-साप्ताहिक 'टाइम' के १९ जुलाई १९७१ का अंक मेरे देखने में आया, जिसमें 'अमेरिकी टिप्पणियाँ' कॉलम में 'अमेरिका और रोम के विषय में' शीर्षक के अन्तर्गत निम्नलिखित संवाद प्रकाशित हुआ था – "यह बड़ी ही विचित्र बात है कि रोम अब भी अमेरिका की हस्तक्षेपवादी कल्पना के पीछे भूत-जैसा लगा है और शीत-युद्ध के योद्धा विश्व-व्यवस्था के एक उदाहरण के रूप में उस प्राचीन साम्राज्य की याद दिलाते हैं, जिसे थोपने में अमेरिका को सहायता करनी है। दूसरी ओर उन लोगों के द्वारा भी रोम का स्मरण किया जाता है, जो पश्चिम के हर लम्बे बालोंवाले सिर तथा नशे के हर कश में पश्चिम का अध:पतन देखते हैं। कनास सिटी में उत्तर-पश्चिमी समाचार सम्पादकों के समक्ष राष्ट्रपति निक्सन ने वाशिंग्टन के फेडरल इमारतों का उल्लेख किया और कहा –

"कभी कभी जब मैं उन खम्भों को देखता हूँ, तो मुझे लगता है कि मैं उन्हें यूनान के एक्रोपोलिस (नगर-दुर्ग) में देख रहा हूँ। विशाल नंग-धड़ंग खम्भे – लगता है मैंने उन्हें रोम के न्यायालय में भी देखा है – और मैं दोनों में ही रात के समय टहला हूँ। मैं सोचता हूँ कि यूनान तथा रोम को क्या हुआ और आप देखते हैं कि आखिर क्या बचा – केवल खम्भे। वस्तुत: हुआ यह कि पूर्व काल की महान् सभ्यताएँ चूँकि धनाढ्य हो गयीं, चूँकि वे जीने की तथा सुधार की इच्छा खो बैठीं, अत: वे उस अध:पतन का शिकार बन गयीं, जो अन्तत: सभ्यता का नाश कर देता है। संयुक्त राज्य अमेरिका अब उसी काल में पहुँच रहा है।"

निश्चिन्त होने के लिए निक्सन ने तत्काल इस बात पर विश्वास व्यक्त किया कि राष्ट्र में नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से स्वस्थ बने रहने के लिए आवश्यक 'ऊर्जा, साहस तथा शक्ति' विद्यमान है। इस उत्साहपूर्ण टिप्पणी के बावजूद इसका सर्वांगीण प्रभाव तात्कालिक स्पेंगलरवाद का ही था।

अपने १९६८-६९ के अमेरिकी दौरे के समय मुझे वहाँ के सुप्रसिद्ध डूडल-लेखक रोजर प्राइस की एक बड़े आकर्षक नामवाली पुस्तक देखने को मिली – Decline and Fall by Gibbon and Roger Price (गिब्बन तथा रोजर प्राइस लिखित क्षय और विनाश)। प्राइस द्वारा अपने नाम के साथ Decline and Fall of the Roman Empire (रोम-साम्राज्य का क्षय और विनाश) के सुप्रसिद्ध लेखक का नाम जोड़ दिया गया था, केवल इसलिए नहीं कि उन्होंने प्राचीन रोम तथा अपने अमेरिका के बीच अध:पतन रूपी समान लक्षण दिखे थे, बल्कि इसलिए भी कि वे पुस्तक के बायें पृष्ठ पर गिब्बन की पुस्तक से रोमन-पतन सम्बन्धी एक उपयुक्त उद्धरण देने के बाद दाहिने पृष्ठ पर स्वयं का चुना हुआ वर्तमान अमेरिकी जीवन से सम्बन्धित एक उपयुक्त चित्र देते हैं।

आज की सामान्यत: यूरोपीय और विशेषकर अमेरिकी पाश्चात्य सभ्यता में एक अन्तर्निहित महानता है। इसमें कोई भी पतन मानवता के लिए एक बड़ी हानि होगी। मुझे पक्का विश्वास है कि इसे सभ्यताओं के सम्मिलन की प्रक्रिया के द्वारा रोका जा सकेगा, जैसा कि आज भारत में हो रहा है और जैसा स्वामी विवेकानन्द आधुनिक भारत को बनाना चाहते थे। अमेरिका मे ही १९वी शताब्दी मे हमें ट्रांसेंडेटल (अतीन्द्रियवादी) आन्दोलन देखने को मिला, जो अमेरिकी सभ्यता को एक आध्यात्मिक मोड़ देना चाहता था। राल्फ वाल्डो इमर्सन, हेनरी डेविड थोरो तथा वाल्ट ह्विटमैन में उसे एक अधिक प्रमुख अभिव्यक्ति मिली। अमेरिका लौटने के लिए लन्दन से विदा होते समय इमर्सन को अंग्रेज बुद्धिजीवी कार्लायल से **गीता** की एक प्रति मिली, जिसका हम इन व्याख्यान-माला के माध्यम से अध्ययन कर रहे हैं। इस पुस्तक को पाने के बाद से ही इमर्सन ने एक भिन्न शैली में अपने प्रसिद्ध लेखों की रचना आरम्भ की, जिनमें **गीता** के विचारों का प्राधान्य रहता था।

फ्रांसीसी विद्वान् रोमाँ रोलाँ अपनी 'विवेकानन्द की जीवनी' Life of Vivekananda (2nd edition, 1944, pp. 52-53) में निम्नलिखित टिप्पणी देते हैं –

"जुलाई १८४६ में इमर्सन लिखते हैं कि थोरो अपने 'कांकार्ड व मेरीमैक नदियों के तट पर एक सप्ताह' से कुछ अंश पढ़कर उन्हें सुना रहे हैं। यह रचना (सोमवार विभाग) **गीता** और भारत के महान् काव्यों एवं दर्शनों की एक उच्छ्वसित प्रशंसा है।"

भारतीय विचारो का इमर्सन पर प्रभाव अत्यन्त प्रबल रहा

होगा, जिसने १८५६ ई. में उन्हें अपनी वेदान्त से अनुप्राणित **ब्रह्मा** शीर्षक सुन्दर कविता लिखने को प्रेरित किया (वही, पृ. ५४)। प्रस्तुत है उसका हिन्दी भावानुवाद –

यदि हत्यारा सोचता है कि वह हत्या कर रहा है,
या यदि मारा गया सोचता है कि वह मारा गया है,
तो वे सूक्ष्म जगत् की बातें ठीक से नहीं जानते
मैं रहता हूँ, जाता हूँ और फिर आता हूँ।

सुदूर या निकट मुझसे विस्मृत हो गये हैं;
छाया और धूप दोनों एक ही हैं;
लुप्त हुए देवता मेरे सामने प्रकट होते हैं;
और मेरे लिए अपमान तथा कीर्ति समान हैं।

उनकी गणना भूल है, जो मुझे छोड़ देते हैं;
जब वे मुझे उड़ाते हैं, तो मैं ही पंख होता हूँ;
मैं ही सन्देह करनेवाला और मैं ही सन्देह हूँ,
और मैं ही वह स्तोत्र हूँ जो ब्राह्मण गाता है।

प्रबल देवता मेरे लोक के लिए ललकते हैं,
और सात पुण्यात्मा व्यर्थ ही लालायित होते हैं;
परन्तु तुम, हे भलाई के विनम्र प्रेमी !
मुझे प्राप्त करो और स्वर्ग की कामना छोड़ दो।

'वाल्डेन' नामक अपने ग्रन्थ में ये अमेरिकी ट्रांसेंडेंटलिस्ट (अतीन्द्रियवादी) **गीता** का इन शब्दों में उल्लेख करते हैं –

"प्रातःकाल मैं भगवद्गीता के विस्मयकारी तथा ब्रह्माण्ड-विज्ञान सम्बन्धी दर्शन मे अपनी बुद्धि को स्नान कराता हूँ, जिसकी रचना के बाद से देवताओं के अनेक वर्ष व्यतीत हो चुके, और जिसकी तुलना में हमारा आधुनिक जगत् तथा इसका साहित्य बौना तथा नगण्य प्रतीत होता है।"

परन्तु अमेरिका केवल भौतिक विज्ञान पर आधारित जड़वाद का ही विकास करता रहा। और तब १९वीं सदी के अन्त में शिकागो की धर्ममहासभा में और तदुपरान्त चार वर्षो तक अमेरिका तथा इंग्लैंड के विभिन्न अंचलों में स्वामी विवेकानन्द द्वारा वेदान्त अर्थात् मानवीय सम्भावनाओं के विज्ञान का प्रचार हुआ, जिसके द्वारा प्रत्येक मानव की दिव्यता तथा अमृतत्व की घोषणा की गयी।

स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त का संक्षिप्त विवरण देते हुए लिखा है (विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ १७३) –

"प्रत्येक जीवात्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य तथा अन्तः प्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, भक्ति, मनोनिग्रह या ज्ञान, इनमें से एक, कुछ या सभी उपायों का सहारा लेकर अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। बस, यही धर्म का सार-सर्वस्व है। मत, अनुष्ठान-विधि, शास्त्र, मन्दिर या अन्य बाह्य क्रिया-कलाप तो उसके गौण ब्यौरे मात्र हैं।"

पश्चिम में यह सन्देश अब विभिन्न रूपों में धीरे धीरे फैल रहा है। और मेरा विश्वास है कि तीसरी सहस्राब्दी की प्रथम शताब्दी से यूरोपीय तथा अमेरिकी सभ्यताओं की आध्यात्मिक प्रगति निश्चित रूप से आरम्भ हो जायेगी।

शंकराचार्य अपने मनोवैज्ञानिक अध्ययन में सभ्यताओ के अधःपतन की इस प्रक्रिया का ही वर्णन करते हैं। उन्होंने बड़े ही सरल संस्कृत में कहा है – **अनुष्ठातृणां कामोद्भवात् हीयमान-विवेक-विज्ञान-हेतुकेन** – जब देश के नागरिकों मे काम का, इन्द्रियपरक कामनाओं का आधिक्य हो जाता है।" जब कामनाएँ एक सीमा के ऊपर चली जाती हैं, तब समाज में अनेक बुराइयाँ प्रकट होने लगती हैं और 'विवेक तथा विज्ञान का ह्रास होने लगता है', 'धर्म अभिभूत हो जाता है' – **अभिभूयमाने धर्मे** तथा 'जब **अधर्म** बढ़ जाता है' – **प्रवर्धमाने च अधर्मे**। यद्यपि सभी समाज भले प्रकार से ही आरम्भ होते हैं, परन्तु आगे चलकर प्रायः सभी समाजो में ऐसी ही परिस्थिति प्रकट होती है। पश्चिम के विभिन्न विचारकों – जिन स्पेंगलर का उल्लेख मैंने पहले किया है और यहाँ तक कि एर्नाल्ड टॉयन्बी द्वारा लिखे ग्रन्थों में भी एक धारणा सर्वत्र दीख पड़ती है; वह धारणा यह है कि संस्कृति मानव-समाज का एक सक्रिय पहलू है और जब यह दुर्बल होती है, तो सभ्यता में अधःपतन होगा। स्पेंगलर के मतानुसार सभ्यता अपने आप में अधःपतन का सूचक है, जबकि संस्कृति विकास की द्योतक है। जब लोग ज्यादा सुविधाएँ, ज्यादा सुख, ज्यादा यंत्र चाहने लगते हैं, तो इन्द्रिय-तंत्र उत्तेजित हो जाता है, जरूरतें बढ़ जाती हैं और सभ्यता का अधःपतन आरम्भ हो जाता है। जब हम कठोर परिश्रम करते है और राष्ट्र के निर्माण का प्रयास करते हैं, तब हमें दर्शन की भाषा मे 'becoming' (हो रहे) अर्थात् संस्कृति की अवस्था में कहा जाता है। जब कोई 'become' (हो चुका) है, तब उसे सभ्यता कहते हैं और वह अधःपतन की शुरुआत है। एक निर्धन व्यक्ति अत्यन्त कठोर परिश्रम करता है और एक आर्थिक साम्राज्य का निर्माण करता है। परन्तु उसके पुत्र ने चूँकि संघर्ष नहीं किया है, केवल उस धन पर गुजर करता है और एक या दो पीढ़ी के भीतर ही उस परिवार में अधःपतन आ जाता है। समस्त सुख-सुविधाओं के उपलब्ध होने के कारण वहाँ संघर्ष की कोई जरूरत नही और इससे मनुष्य मे निहित वीरता का तत्त्व कुण्ठित हो जाता है। भाग्य तीन या चार पीढ़ियों से ज्यादा एक परिवार का साथ नही देता। इस प्रकार संस्कृति और सभ्यता 'becoming' (हो रहे) व 'become' (हो चुके) की अवस्थाओं से हो कर गुजरते हैं; स्पेंगलर तथा अन्य विचारकों ने ऐसा ही विश्लेषण किया है।

❖ (क्रमशः) ❖

ओ युवा योद्धा संन्यासी!

दुर्गा प्रसाद झाला

ओ अदम्य प्रेरणा
और अडिग संकल्प के स्रोत
युवा योद्धा संन्यासी!
क्या तुमने यह समझ लिया था
कि तुम्हारी यात्रा समाप्त हो गयी है
और तुम्हारे सपने
अब इस बंजर जमीन में
उगने लगेंगे?
क्या इसीलिए
अपने और अधिक बाह्य विस्तार को
मात्र एक औपचारिकता मानकर
काल की स्वर्ण-मंजूषा में
तुमने अपने आपको बन्द कर लिया?

ओ युवा योद्धा संन्यासी!
नहीं, नहीं,
तुम्हारी यात्रा अभी समाप्त नहीं हुई है।
देखो
इस्पात जैसी मांस-पेशियों
और मजबूत स्नायुओं वाला
तुम्हारा वह ऊर्जस्वी युवा
आज भी अपने सपनों को
धूल में लुढ़कते हुए देख रहा है
जिनको कुछ पैर
ठोकर मारते हुए आगे बढ़ रहे हैं
और अट्टहास कर रहे हैं।
सूरज की तरह दमदमाता
जिसका चेहरा है
उसकी आँखों के आगे
एक तोंदियल काला अंधेरा है
जो बड़ी बेशर्मी के साथ
प-स-र-ता हुआ
उसे लीलने के लिए
चला आ रहा है।
शायद तुमको मालूम नहीं
युवा-वर्ष
जो कभी यहाँ आया था
अब चला गया है।
क्या तुमने उसकी आवाज सुनी थी?
शायद जाते जाते वह कह रहा था
अब इस देश को युवाओं की जरूरत नहीं है।
हाँ,
युवाओं की जरूरत नहीं है
क्योंकि
युवा —
एक दहकती हुई आग है
जो खुद भी जलती है
और सड़ी-गली चीजों को जलाती भी है
युवा —
एक आँधी है
जो अगर अपने साथ बरसात लाती है
तो अट्टालिकाओं के
ऊँचे, चमचमाते, दर्पीले, कंगूरों को ढहाती भी है
तुमने कहा था —
दुर्बलता पाप है।
दुर्बलता मौत है।
तो फिर
काल की इस स्वर्ण-मंजूषा में
चुपचाप आत्म-विस्मृति के सुख में डूबे रहना
और बाहर की लपलपाती आग से
आँखें मूँदे रहना
क्या दुर्बलता नहीं है?

आओ,
काल की इस स्वर्ण-मंजूषा से
बाहर आओ।
हर युवा
अपनी आत्मा में
तुम्हारे लिए एक सिंहासन सजाए बैठा है
वह अपने रक्त से
तुम्हारा राजतिलक करने के लिए आतुर है।
आओ,
उसकी हर सांस में गीत बनकर आओ
आओ,

इस सन्नाटे को चीरो
अपनी चुप्पी को तोड़ो
एक बार फिर ब़ोलो
हर युवा के कण्ठ से बोलो,
'जीवन समर है,
मुझे संघर्षरत ही रहने दो।'

आओ,
हर युवा के हाथ बनकर आओ
अभी इस बंजर जमीन को
बहुत गहराई तक गोड़ना है
कठोर चट्टानों को तोड़ना है
नदी की धारा को इस ओर मोड़ना है।
यह जमीन अपने आप में बंजर नहीं थी
इसे बंजर बनाया गया है।
आओ,
हर युवा के हाथ में शक्ति की
तलवार बनकर आओ
ताकि इस जमीन को बंजर बनाने वाले
निर्मम और कायर हाथों को
हमेशा हमेशा के लिए
काटकर फेंका जा सके!

ओ आत्मा के अमर शिल्पी!
तुम सत्य हो
और है सत्य!
तुम्हारे लिए मृत्यु नहीं है!
इसलिए आओ,
काल की इस स्वर्ण-मंजूषा से बाहर आओ!
क्या यह निर्घोष तुम्हारा ही नहीं था कि
अपनी बेड़ियों को तोड़ डाल
उन बेड़ियों को जिन्होंने
तुझे बाँधकर
एक तरफ पटक रखा है।
कहीं ऐसा तो नहीं कि
तुम्हें भी
किन्हीं बेड़ियों ने जकड़ रखा है?
नहीं, नहीं,
ओ अनन्त पथ के यात्री!
आओ,
हर युवा की स्वाधीन आत्मा बनकर आओ!

जो एक निर्भीक चिड़िया की तरह
दुर्गम रहस्यों से भरे आकाश में
उन्मुक्त रूप से विचरण करते हुए
सारे अंधड़ और तूफान को
अपने पंखों से एक तरफ झटक दे
और फिर
किसी पेड़ की अपनी मनचाही डाली पर बैठकर
बांसुरी-सी कोमल अपने गीतों की
स्वर लहरी लहरा दे!

ओ चिर युवा संन्यासी!
ओ चिर योद्धा संन्यासी!
आओ,
काल की इस स्वर्ण-मंजूषा से
बाहर आओ
यौवन तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है।
आओ,
यौवन का खौलता रक्त बनकर आओ,
आओ,
यौवन का मचलता-किलकता जीवन बनकर आओ।
अरे तुमने ही तो
गीता के 'दर्शन' का दर्शन किया था
फुटबाल के खेल में
फिर तुम 'दर्शन' की किन शून्य गहराइयों में
खो गए हो।

आओ,
हर युवा के रूप में
उस मैदान में आओ
जहां जिंदगी का कशमकश से भरा
एक अनवरत खेल चल रहा है
कोई भी जीते, कोई भी हारे
बस उमंग का एक रेला बह रहा है!

ओ शक्ति के उपासक!
ओ यौवन के आराधक!
आओ,
काल की इस स्वर्ण-मंजूषा से
बाहर आओ,
तुम्हारी यात्रा कभी समाप्त नहीं हो सकती।
क्योंकि यौवन का कभी अन्त नहीं होता। ❑

एक संन्यासी की भ्रमण-गाथा (४)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' शीर्षक के साथ अपनी भ्रमण-गाथा लिखी थी, जो सम्भवत: रामकृष्ण कुटीर, बीकानेर से प्रकाशित हुई । हमें एक जीर्ण-शीर्ण प्रति मिली है, जो हमें अत्यन्त रोचक तथा उपयोगी प्रतीत हुई, अतएव 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के हितार्थ इसे धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है । – सं.)

अमरनाथ की राह पर

जब संन्यासी कश्मीर में श्री अमरनाथजी के दर्शन की कामना लिए रावलपिंडी पहुँचा, तो देखा कि पास में दस आने ही बचे हैं। अत: संन्यासी ने पैदल ही चलकर जाने का विचार रखा। तब वह रावलपिंडी के रामबाग में ठहरा हुआ था। एक दिन वहाँ कुछ अमरनाथ के यात्री आ पहुँचे और भण्डारा लगाया। संन्यासी को भी आमंत्रण मिला।

भोजन करते समय भगत हरिशा हजारा जी ने संन्यासी से पूछा – "क्यों, अमरनाथ दर्शन करने नहीं जाना है?"

संन्यासी – "है तो सही, पर चलकर जाने का विचार है। इससे सम्पूर्ण काश्मीर-भूमि का पर्यटन भी हो जाएगा।" (संन्यासी ने पास में पैसा न होने की बात छिपा ली।)

भगतजी ने साथियों से पूछा – "सही बात! सत् वचन! क्यों जी, हम लोग भी पैदल ही चलें तो कैसा रहेगा?" (हरिशाजी उमर में सबसे बड़े, ७१-७२ वर्षो के जवान समझिए। शरीर खूब मजबूत, ६ फुट ऊँचा कद, विशालकाय और बल इतना कि ३-४ नौजवानों को पटक दें। उनका काश्मीरी लोई, अन्न आदि का लाखों रुपयों का व्यापार था और स्वयं उदार दाता भी थे।)

किसी ने कहा – "अजी उतनी दूर (श्रीनगर २०० मील) चलकर जाने में तो बहुत समय लगेगा और तबीयत भी बिगड़ सकती है, इसलिए श्रीनगर तक बस में जाना ही अच्छा है, महात्माजी अपने साथ चलें!"

पर भगतजी ने जोर देकर कहा – "ऐसा मौका बार बार थोड़े ही मिलेगा? सन्त ने ठीक कहा है, चलो हम सब पैदल चलेंगे।"

एक अन्य भगतजी (जो बाद में सन् १९२३ के बाद वैराग्य लेकर हरिद्वार निरंकारी अखाड़े के एक महन्त भी बने थे और जो उस यात्रा में पूरी पार्टी के व्यवस्थापक थे) ने कहा – "चलकर जाना ही अच्छा रहेगा, सत्संग भी होता रहेगा और गाँव गाँव दर्शन करते हुए जाना बड़ा अच्छा लगेगा। पहले के दिनों में लोग चलकर ही तीर्थभ्रमण करते थे और उससे बड़ा लाभ उठाते थे; इससे ज्ञान में काफी वृद्धि होती थी और बहुत-से नये लोगों से मित्रता भी हो जाया करती थी। ...हाँ, कोई बीमार हो जाय और अगर कमजोरी के कारण न चल सके, तो उसे बस या मोटर में बिठा दिया जाएगा या टट्टू पर बिठा दिया जाएगा। चलो सब पैदल ही यात्रा करें। महात्माजी तो हमारे साथ ही चलेंगे, क्यों?"

संन्यासी – "हाँ, मै भी आप लोगों के साथ ही चलूँगा, पर वापस भी चलकर ही आना है न?"

भगत हरिशाजी – "हाँ, अभी तय कर लो, अभी तो चलते हुए ही लौटने का भी रखा जाय! जो न आ सकें या न आना चाहें, वे बस या मोटर से लौट आयेंगे।"

बस, सभी राजी हो गए। तीसरे दिन सब तक्षशिला देख कर एबटाबाद की ओर चले। वहाँ से पैदल यात्रा शुरू हुई।

एबटाबाद से चक्कर लगाते हुए टोली श्रीनगर-रावलपिंडी की बड़ी सड़क से जुड़नेवाले डूमेल पुल पहुँची। उस रोज पड़ाव की जगह पर पहुँचने के लिए १५-१६ मील चलना था। न जाने क्यो संन्यासी को सुबह से ही लग रहा था कि आज अन्तिम दिन है, अत: किसी से बातचीत आदि करने में दिल नहीं लगता था और वह चुपचाप अन्तर्मुखीन वृत्ति लेकर रास्ता चल रहा था। पर भगत हरीशाजी, जो प्रतिदिन साथ साथ ही चला करते और रात में पास ही बिस्तर लगाकर सो जाया करते थे, साथ चलना चाहा। चलते चलते कोई-न-कोई प्रसंग चालू करना उनका स्वभाव था। उस दिन भी वैसे ही कहने लगे तो संन्यासी ने कहा – "आज अकेले ही चलने की इच्छा हो रही है, बातचीत करने की इच्छा नहीं होती, अत: आप सब आगे आगे चलिए, मैं पीछे पीछे आता रहूँगा।"

भगतजी ने सोचा शायद नाराजगी की कोई बात हो गयी होगी, इसलिए वैसा कह रहा है और टोली का संग छोड़कर चले जाने का इरादा होगा। सो उन्होंने कहा – "आप तो आगे आगे चलिए, हम सब आपके पीछे पीछे चलेंगे।" संन्यासी ने उसे मान लिया और आगे चलता रहा। ... बीच में जोर की वर्षा शुरू हो गयी, सब भीगते चले, क्योंकि रास्ते में कहीं भी ठहरने के उपयुक्त आश्रय नहीं था। सुबह करीब नौ-दस बजे टोली एक ऐसे स्थान पर पहुँची, जहाँ पहाड़ सड़क के ऊपर और नीचे भी था। नीचे नदी तक लगभग आधा मील भयंकर सीधी ढाल थी, ऊपर भी खड़ी चट्टानें और कहीं मिट्टी का ढाल पहाड़ तक की चोटी तक था। बारिश अब धीमी हो गई थी, पर ऊपर से पहाड़ अचानक धड़-धड़कर धँसने लगा –

कीचड़-मिट्टी, रोड़े-पत्थर आदि भीषण वेग से संन्यासी की ओर गिरने लगे। संन्यासी ने मन-ही-मन समझा कि शायद इसी कारण सुबह से ही ऐसा लग रहा था कि आज अन्तिम दिन है। अत: वह एक ही जगह शान्त होकर ठहर गया और मौत की प्रतीक्षा में इष्ट-स्मरण करने लगा। परन्तु उसके आसपास चारों ओर से कीचड़-मिट्टी, रोड़े-पत्थर आकर गिरे और रास्ते में उनका ढेर लग गया, इतना ऊँचा कि संन्यासी को कोई देख नहीं पाता था, परन्तु उसके शरीर पर एक कंकड़ तक की चोट भी नहीं लगी। केवल नीचे से कीचड़ के छींटे लग जाने से कपड़े खराब हुए थे। ५-७ मिनट तक यह सब गिरना चालू रहा था। जब बन्द हुआ तो सामने से एक सिक्ख ड्राइवर ने पत्थर के सहारे ऊपर चढकर संन्यासी को देखा और अपनी पगड़ी का छोर फेंककर ढेरी के उस पार उतर आने में मदद दी। टोली के सभी लोग सोच रहे थे कि संन्यासी उसके नीचे दबकर खत्म हो गया है और 'हाय, हाय' कर रहे थे। परन्तु जब देखा कि वह सही सलामत है, तो कहने लगे – "इधर आ जाइए इधर।" संन्यासी ने कहा – "पीछे नहीं, आगे ही कदम बढ़ाऊँगा।" किसने कृपा छिपाकर रक्षा की? जय भगवान!

उत्तरकाशी

परिव्राजक संन्यासी उत्तराखण्ड में गंगोत्री से उत्तरकाशी उतर रहा था। वर्षा शुरू हो गई थी, पहाड़ी नदियाँ उछल-उछलकर तीव्र वेग से बह रही थीं। पुल न होने के कारण किसी किसी स्थान पर पार उतरना खतरनाक था और सड़क पर भी रोड़े-पत्थरों के कारण सावधानी से उतरना पड़ता था। वैसे ही एक स्थल पर संन्यासी संकट में आ पड़ा था। गाँव नदी के पार था, सामने ही दिखता था, पर हाल ही में वर्षा होने के कारण नदी में पानी का वेग बहुत अधिक था। छह फुट से भी अधिक ऊँचे एक लम्बे नारायण कुछ समय पूर्व ही उस पार उतरकर वहीं से खड़े खड़े देख रहे थे। दुबले-पतले संन्यासी के लिए पार उतरने का साहस करना मौत से भिड़ने जैसी बात थी, परन्तु और उपाय भी न था, इधर कोई भी आश्रय न था, जहाँ रात बिताई जा सके।

एक भोटिया अनाज की थैलियाँ ढेरकर और ऊनी चादर से ढँके जरा-सा आश्रय बनाकर पड़ा था। ये थैलियाँ भी ऊन की होती हैं और इतनी सघन कि अन्दर बूँद-भर पानी भी नहीं जा सकता। संन्यासी ने उससे पूछा – "कहाँ कम पानी है?" उसने वही स्थल बताया, जहाँ से पूर्वोक्त लम्बे नारायण पार उतर गए थे। संन्यासी इष्ट-स्मरण करते हुए उधर ही चला, हाथ में पाँच फुट का पहाड़ी डण्डा था, एक छोटी-सी झोली थी जिसमें गीता, चाकू, माचिस, मोमबत्ती आदि चीजें और हाथ में एक कमण्डलु था। फिर एक कम्बल और कन्धे पर दो कपड़े, बस, इतनी ही चीजें थीं। संन्यासी पानी में सावधान होकर चलने लगा, क्योंकि रोड़ों पर पाँव फिसलने का डर था। डण्डे पर टेक देकर वह आधा ही पार कर पाया था कि भयंकर तीव्र प्रवाह में जा पड़ा। प्रवाह के विरुद्ध डण्डे का टेक था, उसी के सहारे खड़ा रह सकता था, परन्तु एक गड्ढा पड़ा, जहाँ वह डण्डा नहीं रख सका और बस, एकदम प्रवाह में खिंच गया, पल भर में पानी के अन्दर चला गया और इतने में एक बड़े भारी पत्थर पर डण्डे का ठोकर लगा (डण्डा टेकने के लिए जैसा टेढ़ा धरा था, वैसा ही रह गया था।) और संन्यासी को पार उतारकर खड़ा कर दिया।

संन्यासी ने जरा-सा पानी भी नहीं पिया था, चोट भी नहीं लगी थी, सीधा उठकर किनारे पर गया। सब भीग गया था, पर कुछ भी नुकसान नहीं हुआ था। अरे, हाथ में कमण्डलु भी वैसा ही पकड़ा हुआ था। वे लम्बे नारायण और एक पहाड़ी मदद करने के इरादे से किनारे किनारे दौड़ रहे थे, पर वहाँ से गंगा नजदीक थीं और नदी का प्रवाह भीषण था। नीचे पानी में उतरकर कोई प्रयास करना खतरनाक था, लेकिन सब क्षण भर में बन गया! कौन थे बचाने वाले? जय भगवान!

ब्रह्मपुत्र के किनारे

पूर्व बंगाल का मैमनसिंह एक बड़ा शहर है। ढाका से छोटा पर अच्छे धनाढ्यों, बड़े बड़े जमींदारों का निवास होने के कारण काफी ऐश्वर्यपूर्ण है। .... तब परिव्राजक ने संन्यास आश्रम में प्रवेश नहीं किया था, उधर मैमनसिंह मे एक ज्येष्ठ कुलबन्धु नौकरी करते थे। विद्यालय के ग्रीष्मावकाश के समय वह उधर घूमने तथा वायु-परिवर्तन के लिए जा हाजिर हुआ।

ब्रह्मपुत्र नद पर स्थित शहर सुन्दर और आकर्षक लगता था। दूर गारो पहाड़ का दृश्य अतीव चित्ताकर्षक था। कुछ रोज इधर-उधर घूमने के बाद रोज शाम को मकान से मील भर दूर ब्रह्मपुत्र नद के किनारे स्थित श्मशान में भी घूमने चला जाता था। एकदम एकान्त स्थान, वहाँ शान्त चित्त होकर ध्यान-चिन्तन करने में बड़ा आनन्द मिलता। इसलिए अकेला ही उधर चला जाया करता। ... एक रोज संध्या से पूर्व ब्रह्मपुत्र में स्नान करने के इरादे से श्मशान के कच्चे घाट पर जैसे ही उतरा कि पानी के भँवर में गिरा और एक खड्ड में जा पड़ा। (उस समय पहाड़ों पर वर्षा होंने से ब्रह्मपुत्र नद में उफान आया हुआ था)। बचने का उपाय अपने आप हाथ में आ गया। एक मजबूत जड़वाला पेड़ जिसका आधे से अधिक हिस्सा तो पानी में गिरा हुआ था और खिंचा जानेवाला ही था, वह हाथ में आ गया जिसके सहारे ऊपर आ सका। उठने के मिनटों बाद ही नदी का प्रवाह उस पेड़ को खीच ले गया। कौन बचाने वाला था वहाँ? जय भगवान!

आबू पहाड़ पर

संन्यासी एक वक्त आबू पहाड़ पर अर्बुदादेवी (अद्धर देवी) के स्थान के नीचे के बाजू में स्थित हनुमान गुफा में ठहरा था। उस समय भी वह दैवी कृपा से ही बिच्छू के डंक से बचा था। लगभग प्रतिदिन रात में वह दो-एक बिच्छू चिमटे से पकड़ता। गुफा में जमीन पर चटाई पर शयन की रीति थी। रात में सिर के पास एक डिबिया में मिट्टी के तेल की बत्ती रखी रहती, ताकि जरूरत पड़ने पर उसे झट जलाया जा सके, इसलिए – "अरे, उठ, बिच्छू।" ऐसी स्पष्ट आवाज सुनकर झट उठ जाता और बत्ती करके देखता तो डंक ऊँचे किये बिच्छू खड़ा है। इस तरह से तीन महीने तक रक्षा की। वह किसकी कृपा थी? जय भगवान!

डीसा में

संन्यासी परिव्राजक वर्षों से उत्तर गुजरात के डीसा शहर में जाया करता है। वहाँ के धार्मिक सज्जन लोग प्रेमभाव रखते हैं, जिससे अधिक जाना होता है। ... एक बार वहाँ शियाले के संन्यासी-आश्रम में ठहरा था। प्रातःकृत्य के लिए बाहर मैदान में जाना पड़ता था, इसलिए हमेशा सुबह चार-साढ़े चार के करीब निकल पड़ता था। एक रात घड़ी बन्द हो गयी थी। एक नींद लेकर संन्यासी उठा, तो साफ चाँदनी के कारण उसने समझा कि सुबह हो गया है और आश्रम से बाहर निकल पड़ा। सामने के रेतीले नाले में बहुत-से कुत्ते दो दल में विभक्त होकर लड़ रहे थे, संन्यासी को देखते ही अपना झगड़ा छोड़कर उन सबने (१०-१२ होंगे) आकर घेर लिया और काट खाने के लिए आक्रमण करने ही वाले थे, इतने में एक कुतिया, जो लाल रंग की और खासी बड़ी थी, पूँछ हिलाती हुई आकर छाती पर पैर उठाकर खड़ी हुई। उसका मुँह तो गले तक आ गया था, पर मैत्रीभाव बताकर पूँछ हिलाया और प्यार जताने लगी। अन्य सब कुत्ते यह देखकर और शायद यह समझकर दूर हट गए कि यह कोई परिचित ग्रामीण है। इसके बाद संन्यासी ने उसे पुचकार कर 'अब छोड़ दे, अब छोड़ दे' कहता हुआ धीरे से छाती पर से उस कुतिया के पैर हटा दिए। पर संन्यासी ने उस कुतिया को कभी देखा नहीं था, कुतिया ने शायद देख रखा होगा। परन्तु उस समय यदि वह कुतिया उस प्रकार अपनी परिचितता तथा प्यार न बताती तो कुत्ते जरूर फाड़ खाते, इसमें सन्देह नहीं।

संन्यासी जब लौट आया, तो उस समय जाग रही एक पड़ोसिन बाई ने पूछा – "आप बारह बजे रात को कहाँ गए थे?" और तब ख्याल हुआ कि समय आधी रात का था।

उस अज्ञात कुतिया को वैसे अपनेपन का भाव दिखाने की किसने प्रेरणा दी थी? जय भगवान! ❖ (क्रमशः) ❖

उत्तम स्वास्थ्य के उपाय (८)

❑ हारलिक्स, कमप्लान, ग्लूकोज आदि पेय अच्छे हैं, परन्तु जिन लोगों को ये सहन नहीं होते, उनके लिए इन्हें छोड़ देना ही अच्छा है।

❑ जिन वयस्क लोगों को बारम्बार चाय, कॉफी, कोक आदि पीने की आदत है, वे इन्हें अविलम्ब छोड़ दें।

❑ तम्बाकू, जर्दा, कच्ची तथा सूखी सुपारी आदि लेने की आदत ठीक नहीं। ये शरीर व मन के लिये बड़े हानिकर हैं। जिन्हें इनकी आदत है, वे अविलम्ब इनका त्याग करें।

❑ रात का भोजन आठ से साढ़े आठ के बीच लेना चाहिये। अधिक देर से रात्रि में भोजन करने से पाचन क्रिया ठीक नहीं होती। फलस्वरूप नींद ठीक से नहीं आती। रात्रि में आहार के एक घण्टे बाद शय्या-ग्रहण करनी चाहिये। इससे बहुमूत्र रोग से बच सकते हैं।

❑ रात को भोजन के बाद थोड़ा टहलना उत्तम होगा। सोने के एक घण्टे पूर्व से पानी नहीं पीना ही अच्छा है। अगर गला सूख जाये तो मिश्री का टुकड़ा मुँह मे रखना उत्तम है।

❑ अत्यन्त नरम या स्पंज का बिस्तर उपयोग में नहीं लाना चाहिये। सोने के पूर्व वज्रासन करना एवं सद् चिन्ता करना उचित है। जितनी देर हो सके उल्टे होकर लेटें, तकिया यदि न लें तो उत्तम है, अन्यथा पतला तकिया व्यवहार करें। सिर के नीचे हाथ रखकर सोना नहीं चाहिये एवं सोते समय पंखा, एयर-कूलर या एयर-कंडिशनर का प्रयोग स्वास्थ्य के लिये अहितकर है। सोते समय शयन कक्ष की खिड़कियाँ खुली रखनी चाहिये।

लघु दुर्गा-सप्तशती

गया प्रसाद शर्मा 'याचक'

(दुर्गा-सप्तशती अर्थात् देवी-माहात्म्य के सार रूप में श्री पृथ्वीधराचार्य ने संस्कृत में 'लघुसप्तशती स्तोत्र' की रचना की है। संस्कृत भाषा सबके लिए सुलभ न होने के कारण हम इस सुप्रसिद्ध स्तोत्र यहाँ एक छायानुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

विद्वान् धर्म, शुभ कर्म जिसे बताते,
जप-यज्ञ-सत्य-व्रत आदि सभी तुम्हीं हो।
तुम चेतनामयि प्रकाशित चित्तवृत्ति,
नित्याभिवादन करूँ जगदम्ब तेरी ॥१॥

तुम वैष्णवी जननि, सिन्धुसुता कहाती,
आनन्द मंगल प्रदायिनी विश्वधात्री।
तेरी कटाक्ष से मोहित विष्णु होते
धर शेषनाग शय्या सुप्रगाढ़ सोते ॥२॥

कल्पान्त के समय जब हरि सो रहे थे,
कर्णोद्भूत मधु-कैटभ दो असुर थे।
जिनको न जीत पाये शिव विष्णु ब्रह्मा,
क्षण में उन्हें विनाशा, तुमने ही अम्मा ॥३॥

महिषासुर बली जब जन्म लेकर,
त्रैलोक्य-शासक बना निज बाहु बल पर।
दुष्कर्म से व्यथित जग के समस्त प्राणी,
मारा त्रिशूल उसके हृदि में भवानी ॥४॥

जब धूम्रलोचन ने धरा को सताया,
हुँकार भर तुम्हीं ने उसको जलाया।
क्रोधाग्नि में असुर है हवनीय तेरी,
वरदे अभय मुझे दे, सुन मातु मेरी ॥५॥

दुर्दम्य चण्ड अरु मुण्ड अजेय रहते,
आकाश तुल्य निज रूप प्रसार करते।
निज खेल में हि उसका शिर छेद डाला
तब नाम चामुण्डेश्वरि हुआ तुम्हारा ॥६॥

देवी! नियुक्त शिवदूत संदेश लेकर,
बलवान दानव-पति गृह शीघ्र जाकर।
चण्डी-चरित्र यश-चर्चित गीत गाता,
तब से प्रसिद्ध शिवदूती हुई तू माता ॥७॥

गिरती धरा पे ज्योंही राक्षस-रक्त-बूँदें,
दानव नये बने तेरी दिशा में कूदें।
रक्त-बीज उसका तुमने पिया हवा से,
निस्तेज हो असुर मरते थे बदहवासे ॥८॥

उन्मत्त बन्धु खल शुम्भ-निशुम्भ दोनों,
त्रैलोक्य-भोगते दैत्य पराक्रमी थे।
शूलाग्र घात कर मार उन्हें गिराया,
पाकर कृपा तुम्हारी, सुरलोक पाया ॥९॥

तेजोमयी प्रलय-पावक में तुम्हारी,
क्षण में समस्त जड़-चेतन भस्म होते।
गिरते पतंग सम दानव दुष्ट मरते.
कालाग्नि ग्रास जलकर निश्चिन्त सोते ॥१०॥

कैसे करूँ स्तवन-वर्णन मैं तुम्हारा,
वर्णेश्वरी सकल शब्दमयी तुम्हीं हो।
वाचा प्रकाश करती तव दिव्य शक्ति,
वागीश्वरी विपदहारिणी, देहि भक्ति ॥११॥

तब बाम हस्त में सुधा-कलश है,
वरदान हेतु दॉया रत बिन अलस है।
आयुध विविध गदादि धरे भवानी,
आरक्त रूप ध्यानी सुकृती, मृडानी ॥१२॥

मायामयी सकल काम-कलामयी हो,
चन्द्रप्रभा तिलक-बिन्दु सुधामयी हो।
वर्णेश्वरी चिद्विलासिनी मातृशक्ति,
जगदम्ब मंत्र में ही सब सिद्धि-भक्ति ॥१३॥

आह्वान वर्णन जपन हवनादि पूजा,
कर्मादि अर्पण विसर्जन मन्त्र देवि।
यदि मोहवश हुई हो त्रुटि-भूल मेरी,
माता क्षमा मुझे कर, वरदानि गौरी ॥१४॥

सब जीव के हृदय-अन्तर में बसी हो,
तुम सूत्रधार बनकर सबको नचाती।
कैसे करूँ चयन शब्द, परे सभी के,
तुम दीनत्राणकर्त्री जन मुक्तिदात्री ॥१५॥

जो नित्य पाठ करता प्रतिदिन त्रिसंध्या,
चण्डी-चरित्र खल-दानव नाशकारी।
आनन्द-मंगल मिलें रिपुनाश होते,
हो पूर्णकाम पाता अपवर्ग भारी ॥१६॥

वैदिक धर्म का स्वरूप

डॉ. सुचित्रा मित्रा, वरिष्ठ प्रवक्ता,
संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

वैदिक धर्म अति प्राचीन है। स्मृति और पुराण भी उसी से अनुप्राणित है। वैदिक धर्म ही सनातन धर्म है और उसका महत्त्व आज भी भारतीय संस्कृति में अक्षुण्ण बना हुआ है। इसका कारण यह है कि इस धर्म में कहीं कोई कृत्रिमता नहीं है और यह आध्यात्मिकता से ओतप्रोत है। कोई भी धर्म जब अध्यात्म से जुड़ जाता है, तो वह प्रत्येक युग और प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रासंगिक हो जाता है, क्योंकि हिन्दू मान्यता के अनुसार अल्पाधिक मात्रा में सभी लोग धार्मिक होते हैं। अत: वेदों में निरूपित धर्म का स्वरूप एक महत्वपूर्ण विषय है।

वेद शब्द का अर्थ है ज्ञान। इसे आध्यात्मिक ज्ञान भी कह सकते हैं। आध्यात्मिक ज्ञान का आर्थ है – ईश्वर से सम्बन्धित ज्ञान। वैदिक ऋषियों ने तपस्या के द्वारा प्रकृति के विभिन्न रूपों में दिव्य शक्तियों का अनुभव किया। विभिन्न देवी-देवता, प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के प्रतिनिधि के रूप में प्रकट होकर हमारा कल्याण साधित करते रहते हैं।[१] जैसे – माता के रूप में पृथ्वी, विभिन्न वनस्पतियों के द्वारा हमारी रक्षा करती है तथा वसुन्धरा को शस्य-श्यामला बना देती है। पिता के रूप में द्यौ:, द्युलोक मे रहकर वहीं से प्राणीमात्र को प्रकाश देते रहते हैं। उनके प्रकाश की किरणों को लेकर क्रमश: ऊषा तथा सूर्य आते हैं। इन्द्र, जल तथा प्रकाश को रोकनेवाले बादल वृत्र तथा अहि नामक असुरों को हटाकर जल उपलब्ध कराते हैं[२] और बल नामक असुर को विदीर्ण कर प्रकाश प्रदान करते हैं। सवितृ-देवता जीवन में प्रेरणा जगाते हैं[३] और सबको नैतिक आदर्शों पर चलने के लिये बाध्य करते हैं। उनकी अवमानना करने पर वरुण देवता अपने पाशों में बाँध लेते हैं।

ऋग्वेद के ऋषि, कहीं देवताओं से अपने कष्टों को दूर करने के लिए प्रार्थना करते हैं, तो कहीं शुभ बुद्धि, अहिंसित स्वभाव तथा स्वयं विचार करने की शक्ति प्राप्त करने की कामना करते हैं।[४] इस प्रकार प्रकृति-पूजा या प्राकृतिक शक्तियों के पीछे दिव्य शक्तियों का अनुभव ही वैदिक धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप था। धीरे धीरे यह बहु-देववाद की धारणा एकेश्वरवाद में परिणत हुई। ऋषियों को बोध हुआ कि विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों के पीछे अनेक दिव्य शक्तियाँ नहीं हैं, अपितु एक ही शक्ति कार्य कर रही है। सूर्य, चन्द्रमा अथवा विद्युत् प्रभा या अग्नि उस परम शक्ति को प्रकाशित नहीं कर सकते, अपितु ये सभी उसी परमेश्वर के कारण प्रकाशित होते हैं।[५] इसी भाव से प्रेरित होकर वैदिक ऋषियों ने विभिन्न देवताओं की पृष्ठभूमि में एक सर्वोपरि या सर्वनियामक सत्ता की कल्पना की और "**एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति** – ईश्वर एक है, जिन्हें विद्वान् नाना प्रकार से वर्णित करते हैं" – इस रूप में उन्होंने एकेश्वरवादी विचारधारा को सर्वेश्वरवाद का स्वरूप दे दिया। इसका चरम विकास उपनिषदों के '**अहं ब्रह्मास्मि**', '**सर्वं खलु इदं ब्रह्म**', '**तत्त्वमसि**' आदि महावाक्यों में हुआ, जिनमें जीव-ब्रह्म की एकता के निरूपण द्वारा अनेकत्व में एकत्व का दर्शन हुआ।[६]

धार्मिक विश्वासों का द्वितीय सोपान भक्तिधारा का विकास है। देवताओं के प्रति समर्पण की भावना देखने को मिलती है। विभिन्न देवताओं के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति वैदिक काल के धार्मिक जीवन की प्रमुख विशेषता है। वरुण, इन्द्र विष्णु आदि देवताओं से सम्बद्ध वेद-मंत्र इसी प्रकार की भक्ति के अमित भण्डार हैं।[७] वैदिक युग के पश्चात् भक्तिमार्ग ने वहीं से प्रेरणा प्राप्त की है। इसी मनोवृत्ति से यज्ञादि का प्रारम्भ भी हुआ। हविष्य आदि के द्वारा देवताओं का समुचित सत्कार करके उन्हें परितृप्त और उनका सामिप्य प्राप्त करने हेतु यज्ञादि के आयोजन किये गये। वैदिक आर्यो का ऐसा विश्वास था कि मंत्रों द्वारा आवाहन किये जाने पर विभिन्न देवता यज्ञों में उपस्थित होकर हविष्य ग्रहण करते हैं। यह भी मान्यता थी कि देव सत्यकोटि के हैं, अत: उनके सभी कृत्यों को करने हेतु आर्य स्वयं भी सत्यादि व्रतों का पालन करते थे।[८] सत्याचरण से अर्थ है, शारीरिक व मानसिक रूप से पवित्रता का आचरण करना तथा यज्ञ के सभी कार्यों को नियम से करना। हर यज्ञ का समय, देवता तथा द्रव्य निश्चित होते थे और देवताओं के लिये यज्ञ करते समय ऋषि स्वयं भी मन-वचन-कर्म से देवत्व भाव को प्राप्त करना चाहते थे, अत: यज्ञ प्रारम्भ करने से पूर्व वे शपथ लेते थे – "**इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि** – मैं मिथ्या जगत् से निकलकर सत्य में पहुँच रहा हूँ। अत: देवताओं की भाँति सत्यादि व्रत में प्रतिष्ठित हो गया हूँ।" इसी सत्यादि व्रत

१. ऋग्वेद, १/८९/१
२. यो हत्वाहिमरिणात् सप्त-सिन्धून्। (ऋग्वेद, २/१२/३)
३. देवानां मध्ये सविता खलु प्रसविता, स्व स्व व्यापारेषु सर्वस्य लोकस्य प्रेरयिता। (शतपथ ब्राह्मण, १/१/२/१७ पर सायण भाष्य)
४. आ नो भद्रा: क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरितास: उद्भिद:। (ऋग्वेद, १/८९/१)
५. ऋग्वेद, १०/१२/१-५
६. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य: स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु:॥ ऋ. १/१६४/४६
७. देखिये - ऋग्वेद, १/१०१/३-६, वही, ३/४६/२ आदि
८. सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि, तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति॥ (शतपथ ब्राह्मण, १/१/१/४)

के आचरण से मानसिक उन्नति होती है। इस प्रकार वेदों में धर्म की दूसरी अवधारणा मिलती है – निश्चित नियम अथवा व्यवस्था। इसे आचरण सम्बन्धी नियम भी कहा जा सकता है। चूँकि सत्यादि व्रत का आचरण यज्ञादि से प्रारम्भ हुआ था, इसलिये यज्ञ को भी धर्म कहते हैं "**यागादिरेव धर्मः**[९] – यज्ञ करना ही धर्म है।"

यज्ञ स्वर्ग-प्राप्ति का साधन है। पूर्व-मीमांसा में कहा गया है कि यज्ञ करने से मनुष्य के संस्कार अच्छे हो जाते हैं। वह मानसिक रूप से अपना शोधन कर लेता है। प्रतिदिन अच्छे संस्कारों को करते हुये मनुष्य सुसंस्कृत हो जाता है, जिससे उसे चरम फल की प्राप्ति होती है अर्थात् वह मरणोपरान्त मोक्ष-प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है। इसलिये धर्म की एक और अवधारणा हुई "**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः**।"[१०] फिर यज्ञ करना तथा यज्ञ के साधन स्वरूप वैदिक मन्त्रों को पढ़ना भी धर्म कहा गया – **चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः**।[११] वेदों में जितने भी प्रेरणामूलक विधि-वाक्य हैं, यथा – **दशपूर्णमासेन यजेत् स्वर्गकामः** – ये सभी वाक्य धर्म कहलाते हैं। इस प्रकार इहलोक में अच्छे संस्कारों का अर्जन करके अपनी उन्नति और परलोक में स्वर्ग-प्राप्ति के उद्देश्य से वेदों में जो कुछ भी बताया गया है, वह सब कुछ धर्ममय है, इसलिये कहा जाता है – "**वेद प्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः**।"[१२]

मूलतः वैदिक धर्म की अवधारणा का सूत्रपात देवताओं की उपासना से हुआ और उपनिषद् काल तक आते आते धर्म शब्द आचरण, विधि, नियम, आश्रम व्यवस्था आदि विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने लगा। वैसे तो ऋग्वेद काल में ही इन अर्थों में वैदिक धर्म का दिग्दर्शन हो गया था, क्योंकि याग-यज्ञ आदि में देवताओं के कार्यों को निश्चित नियम से करते हुये, उन्हें सुचारु रीति से सम्पन्न करने के लिये सदाचार का पालन करने का महत्त्व इतना अधिक बढ़ गया कि धर्म का अभिप्राय – निश्चित नियम, व्यवस्था या सिद्धान्त या आचरण तथा नियम बन गया। वाजसनेयी संहिता में[१३] उपर्युक्त अर्थ मिलता है। अथर्ववेद[१४] में धर्म शब्द का प्रयोग धार्मिक क्रिया या संस्कार करने से अर्जित गुण के अर्थ में हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण में 'धर्म' शब्द समस्त धार्मिक कर्तव्यों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्योपनिषद्[१५] में धर्म की तीन शाखाएँ मानी गयी हैं – (१) यज्ञ, अध्ययन तथा दान अर्थ में (२) तपस्या अर्थात् तापस धर्म तथा (३) ब्रह्मचारित्व अर्थात् आचार्य के गृह में दीक्षान्त तक निवास करना। यहाँ धर्म से तात्पर्य आश्रम के विशेष कर्तव्यों से है। कालान्तर में धर्म शब्द का अर्थ परिवर्तित होता रहा, पर उसका मूलभूत प्रयोग मनुष्य मात्र के कर्तव्य, आचार-निष्ठा, सत्य-पालन आदि अर्थों में होने लगा। तैत्तिरीय उपनिषद् में धर्म शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[१६] भगवद्गीता[१७] में भी धर्म शब्द का यही अर्थ लिया गया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उपनिषद् में धर्म से अभिप्राय यह लिया गया कि जिसके द्वारा मनुष्य स्वात्मा को पहचान सके, अपना विश्लेषण स्वयं कर सके तथा एकमात्र लक्ष्य यह रहे कि परमात्मा के साथ एकात्म स्थापित कर सके।

वर्तमान युग में वैदिक धर्म की प्रासंगिकता तो स्वतःसिद्ध है। आधुनिक काल में जीवन-मूल्यों को पहचानने की जरूरत है, क्योंकि आज मनुष्य धर्मभ्रष्ट, लक्ष्यभ्रष्ट, धर्मसङ्कर और भ्रान्ति-संकुल तामसिक मोह में फँसकर वैदिक शिक्षा एवं नीति को भूल रहा है। इसी कारण सर्वत्र अधर्म, अत्याचार, हिंसा, अशान्ति, कलह, क्लेश, आदि बुराइयों का बोलबाला है। आर्य ऋषियों के वंशज हम भारतवासियों ने आज निम्न धर्म-स्वरूप में रहकर अज्ञानता के अन्धकार को ही स्वीकार कर लिया है। इसलिये यदि हममें अनन्त नरक से मुक्ति पाने की लेश मात्र भी अभिलाषा है तो हमें वैदिक धर्म में वर्णित आदर्शों पर चलकर जननी-जन्मभूमि के भावी सन्तानों को साहसी, शक्तिमान और विनम्र बनाना होगा। सम्पूर्ण राष्ट्र, विशेषकर युवावर्ग को इसी प्रकार की उपयुक्त शिक्षा तथा उच्च आदर्श देना और वेदों में बताये गये उद्दीपक कर्म-प्रणाली के अनुसार कार्य करना हम सबका प्रथम उद्देश्य होना चाहिये।

अब प्रश्न यह उठता है कि वर्तमान युग में वैदिक धर्म के अनुसार किस प्रकार जीवन को परिचालित किया जाये?

वैदिक धर्म के मूल में ज्ञान, भक्ति तथा निष्काम कर्म आते हैं। इसके अन्तर्गत ज्ञान (ईश्वरीय अथवा आध्यात्मिक), उदारता, प्रेम, साहस, शक्ति तथा विनय भी आ जाते हैं। मानव जाति को ज्ञान वितरण करना, जगत् में उन्नत तथा उदार पवित्रता का निष्कलंक आदर्श प्रस्तुत करना, निर्बल की रक्षा करना, प्रबल अत्याचारियों पर नियंत्रण करना, वैदिक ऋषियों के जीवन का प्रमुख उद्देश्य रहा है।[१८] इसी उद्देश्य की सिद्धि में उनके धर्म की चरितार्थता है। वैदिक धर्म में प्रतिपादित ज्ञान, भक्ति तथा निष्काम कर्म की जीवन में आवश्यकता कुछ इस प्रकार है।

९. पूर्वमीमांसा सूत्र, अर्थसंग्रह, ४
१०. वैशेषिक सूत्र
११. पूर्वमीमांसा सूत्र, १/१/२
१२. पूर्वमीमांसा सूत्र, १/१/२
१३. वाजसनेय संहिता, २/३ तथा ५/२७
१४. अथर्ववेद, ९/९/१७
१५. छान्दोग्योपनिषद्, २/२३

१६. सत्यं वद, धर्मं चर आदि (१/११)
१७. स्वधर्मे निधनं श्रेयः। (भगवद्गीता)
१८. दक्षस्य चित्तिं सुभगत्वं अस्मे धेहि। रयीणां पोषं, तनूनां अरिष्टि वाचः स्वाद्मानं अहनां सुदिनत्वम्॥ (ऋग्वेद, २/२१/६)
– "हमें बल, विचार तथा सौभाग्य दीजिए; धनो की वृद्धि और शरीरों की नीरोगता दीजिए; वाणी की मधुरता और दिनो की उत्तमता दीजिए।"

ज्ञान अनादि अनन्त काल तक वर्तमान रहता है। वह ईश्वर के साथ सह-अस्तित्ववान है। जो व्यक्ति किसी प्रकार के आध्यात्मिक नियम का आविष्कार करते हैं, उन्हीं को प्रत्यादिष्ट पुरुष या ऋषि कहते हैं। वैदिक धर्म प्रवृत्तिमूलक एवं निवृत्तिमूलक दोनों है और ऋषि उस ज्ञान को मनुष्य मात्र तक पहुँचाने का माध्यम मात्र हैं। परमात्मा को प्राप्त करने के लिये यज्ञादि का आयोजन करना, सत्याचरण करना, देवताओं की उपासना के लिये स्वयं को देववत् बना लेना आदि प्रवृत्तिमूलक धर्म कहलाता है। वैदिक ऋषियों ने सबका धर्म की इस दिशा से परिचय कराया है। धर्म का दूसरा पक्ष निवृत्तिमूलक है अर्थात् आत्मा-परमात्मा को अभेद जानकर ईश्वर के साथ अभिन्न बोध करना, इन सबका ज्ञान ऋषियों ने उपनिषदों में बताया है। इस प्रकार के अनन्त अपौरुषेय वाक्य हैं। ऋषियों ने अपने अनभूतिपूर्ण अन्त:करणों में जिन सनातन सत्यों का साक्षात्कार किया था, वेदमंत्रों में उन्हीं का वर्णन है। इन ऋषियों ने जिन सत्यों का साक्षात्कार किया, उनमें अनुशासन का स्थान महत्वपूर्ण है।[१९] यही अनुशासन ऋत है।[२०] यह एक ऐसा अनुशासन अथवा प्रकृति की एक ऐसी निश्चित व्यवस्था है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् नियंत्रित है।

वेदों में प्रकृतिमूलक ज्ञान के आधार-रूप में ऋत की अवधारणा है। अनन्त प्रकृति, समस्त चराचर में व्याप्त जो जगत् विषयक नियम है, वैदिक संहिताओं में उसे 'ऋत' कहा गया है। वेदों में उन्हें उच्चतम देवताओं का संचालक और नियन्ता कहा गया है। नैतिक दृष्टि से 'ऋत' सत्य तथा तप का द्वितीय स्वरूप माना जाता है और याज्ञिक दृष्टि से 'ऋत' यज्ञ अथवा संस्कार का द्योतक है। ऋत का महत्त्व स्वत:सिद्ध है। ऋग्वेद में कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में सर्वप्रथम तपस् से ऋत की उत्पत्ति हुई और उसके पश्चात् रात्रि, सागर, वर्ष और विधाता ने सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी, वायु और अन्तरिक्ष का सृजन किया।[२१]

ऋग्वेद में ऋत की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह सभी प्रकार की सुख-शान्ति का स्रोत है। इसकी भावना मात्र से ही सभी पापों का विनाश हो जाता है। यह मनुष्य को उद्‌बोधित करानेवाला और प्रकाश देनेवाला है।[२२] तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने अन्त:करण में ऋत-तत्त्व को जाग्रत करें ताकि वह स्वयं अपने आप में नियंत्रित हो सके।

ज्ञान के साथ साथ धर्म का द्वितीय आधार भक्ति है। जब ईश्वर के प्रति मन स्वाभाविक रूप से जुड़ जाता है, तो उसे भक्ति कहते हैं। ईश्वर के प्रति भक्ति-भावना के दृष्टान्त ऋग्वेद काल से ही देखने को मिल जाते हैं। अनेक मंत्रों में मंगलमय ईश्वर के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित की गयी है, तो किन्ही मंत्रो में उनके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित की गयी है। इसी भक्ति-भावना को आधार मानकर ईश्वर के स्वरूप की कल्पना की गई है। कहीं उन्हें हिरण्याक्ष: (स्वर्णिम नेत्रोंवाले) कहा गया है,[२३] तो कहीं शितिपाद: (श्वेत पैरोंवाले) कहा गया है।[२४] कहीं उन्हें वज्रहस्त: कहा गया है,[२५] तो कहीं उन्हें सुशिप्र: (सुन्दर कपोल वाले)[२६] कहा गया है। इस प्रकार ईश्वर के विभिन्न रूपों की कल्पना करके उनकी अलग अलग देवों के रूप में उपासना की गई है। इसी भक्ति-भावना का चरम विकास होने पर मनुष्य जान लेता है कि मनुष्य ईश्वर के साथ अभिन्न है और तभी वास्तविक साम्यावस्था प्राप्त होती है; तभी मनुष्य की मुक्ति होती है। जब तक स्वयं को उस अनन्त पुरुष से अलग रखा जाता है, तब तक मन का भय व संशय कभी दूर नहीं होता।

वर्तमान युग अनुशासनहीनता का युग है, परस्पर विरोधी वैमनस्य का युग है। आज मनुष्य बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक तथा राजनैतिक वैमनस्यता के कारण परस्पर द्वेष की भावना से ग्रस्त है। इनसे मुक्ति पाने का उपाय वेदों के अन्तिम भागों में अर्थात् उपनिषदों में वर्णित है। वेदों में दो बातें बड़े स्पष्ट रूप से बतायी गयी हैं – (१) सभी विषयों में ईश्वर की महिमा की अनुभूति करना तथा (२) प्रत्येक को ईश्वर की सन्तान मानकर पवित्र तथा पूर्ण आत्मा कहना। प्राकृतिक नियमों के मूल में, जड़-तत्त्व तथा शक्ति के प्रत्येक अणु-परमाणु में एकमात्र वही ईश्वर विराजमान है, जिसके आदेश से वायु चलती है, अग्नि दहकती है और पृथ्वी पर मृत्यु मँडराती है।[२७] अत: कोई भी व्यक्ति पापी नहीं हो सकता। प्रत्येक प्राणी ईश्वर या अमृत का पुत्र है। उपनिषद् में कहा गया है – अमृत के पुत्रो! सुनो, हे दिव्यधाम के निवासी देवगण! तुम भी सुनो! मैंने उस अनादि पुरातन पुरुष को जान लिया है, जो समस्त अज्ञान, अन्धकार और माया के परे है। केवल उस पुरुष को जानकर ही तुम मृत्यु के पथ से छूट सकते हो, दूसरा कोई पथ नहीं है।[२८] उनके मुख से ऐसी आशा और सांत्वना की वाणी निकली, जो आज भी अन्त:स्फूर्ति प्रदान करती है। मनुष्य ईश्वर की सन्तान

१९. यस्य व्रतं इन्द्र: वरुण: मित्र: अर्यमा रुद्र: अरातय: न मिनन्ति। (ऋग्वेद, २/३८/९)

२०. ऋतेनादित्य महि वो महित्वं – हे आदित्यो! तुम्हारी महिमा सत्य और सरलता के कारण ही बड़ी हैं। देखिये - कठोपनिषद २/३/३

२१. ऋग्वेद,१०/१९०

२२. ऋग्वेद, ४/२३/८-९

२३. ऋग्वेद, १/३५/८

२४. ऋग्वेद, १/३५/५

२५. ऋग्वेद, २/१२/१३

२६. ऋग्वेद, २/१२/६

२७. भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य: ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चम: ॥ (कठोपनिषद्, २/३/३)

२८. शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थु:।... वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमस: परस्तात्। तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेऽनाय ॥ (श्वेताश्वतरोपनिषद्, २/५; ३/८)

है, अमर आनन्द का अधिकारी है, ऐसी अवस्था में पाप या असत्य की कोई समस्या रह ही नहीं जाती।

ऋग्वेद से उपनिषद् काल तक सर्वत्र भक्ति-भावना का ही सन्देश है। ऋग्वेद में परम पुरुष को ही निकटतम आत्मीय कहा गया है, "तुम हमारे पिता हो, तुम हमारी माता हो, तुम हमारे परम प्रेमास्पद सखा हो, तुम्हीं सभी शक्तियों के मूल हो, हमें शक्ति दो।[२९] ऋग्वेद में सर्वत्र देवताओं की स्तुति है। मनुष्य अपने जीवन के क्षुद्र भार को वहन करने के लिये भी ईश्वर की कृपा चाहते हैं।[३०] अत: प्रेम-भावना का विकास करना अथवा प्रेम द्वारा उस परमेश्वर का स्मरण करना ही आज की समस्याओं का समाधान है। स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं – ऐहिक तथा पारलौकिक सभी प्रिय वस्तुओं से भी अधिक प्रिय जानकर उस प्रेमास्पद की पूजा करनी चाहिये।[३१]

निष्काम कर्म – ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में प्रतिपादित कर्म-विषयक विचार कर्मकाण्ड-परक हैं। यद्यपि कर्मकाण्ड सकाम होता है, स्वर्गरूप फलप्राप्ति के लिए होता है, तथापि यज्ञादि करते समय तपस्या, पवित्र आचार, निश्छल व्यवहार तथा अन्त:करण की शुद्धि आवश्यक है। वेदों में ऐसा भी निर्देश दिया गया है कि चोरी, व्याभिचार, झूठ, कपट, छल, बलात्कार, हिंसा, अभक्ष्य-भक्षण और प्रमाद आदि निषिद्ध कर्मों से दूर रहकर शुद्ध आचरण करने से कर्मों के निष्पादन का अधिकारी बना जा सकता है। उपनिषदों में निष्काम कर्म के बारे में कहा गया है कि इसके द्वारा मन निर्मल होता है।[३२] और मन निर्मल होने से ईश्वर का साक्षात्कार हो सकता है, तब सारी कुटिलता नष्ट हो जाती है और सारे सन्देह दूर हो जाते हैं।[३३]

आज के युग में यदि विश्व के पुनरुत्थान की आवश्यकता है, तो केवल वैदिक धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों द्वारा ही इसकी समस्याओं का समाधान हो सकता है। वेदों में निर्दिष्ट सभी कर्मों को करते हुए यदि मनुष्य का हृदय ईश्वर में लगा रहे, तो प्रत्येक कार्य सत्कार्य हो जाता है। सुभाषित कहती है – यदि ईश्वरीय प्रेम इहलोक या परलोक में पुरस्कार की प्राप्ति के लिए भी किया जाय, तो वह भी सत्कार्य है। केवल प्रेम के लिये ही ईश्वर से प्रेम करना चाहिये।[३४]

---

२९. अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्र:। (ऋग्वेद, १/८९/१०)

३०. ऋग्वेद, १/८९/१

३१. विवेकानन्द साहित्य, प्रथम सं., भाग १, पृ. १३

३२. कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥ (मुण्डकोपनिषद्, १/१/३)

३३. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशया:। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ (मुण्डकोपनिषद्, २/२/८)

३४. न धनं न जनं न च सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये। मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥ (शिक्षाष्टक, ४)

अम्बिका स्तुति:

रवीन्द्रनाथ गुरु

अर्कव्रतानवरतार्चक साधुलब्धे,
आश्वम्बुयाचक सुधान्वित दुग्धदासि ।
इच्छाक्रियात्मक सुबोधमयाद्यशक्ते !
ईशानि! मानविकतामव सारदेऽम्ब ।।१।।

– हे माते ! अनवरत भाव से तुम्हारी आराधना में लगे हुये सत्पुरुषों को सहज ही दर्शन देनेवाली और एक बूँद जल माँगनेवाले को शीघ्र ही मधुर दुग्ध दे देती हो। हे इच्छा-क्रियामयी प्रज्ञाघन की मूलशक्ति भुवनेश्वरि! हे माँ सारदा देवि! तुम हमारी मनुष्यता की रक्षा करो।

उन्मीलयित्रि! शिवसन्नयनस्य नस्त्वाम्,
ऊर्ज:स्वलां जननि! सन्ततमाश्रयाम: ।
ऋष्याननस्तुतयशोगुण सन्निवासे,
ऋधात्रि! मानविकतामव सारदेऽम्ब! ।।२।।

– कल्याणमयी नेत्रों का उन्मोचन करनेवाली शक्तिमयी माँ! हम सदा तुम्हारा आश्रय लेते हैं। ऋषियों के मुखों से नि:स्रित अपने गुणगान में स्थित रहनेवाली स्वधात्रि! हे माँ सारदे! तुम हमारी मनुष्यता की रक्षा करो।

लृ-शान्तिदे दुरितहन्त्रि! नगेन्द्रपुत्रि!
लॄ-कृष्ण-सूर्य-विधि-निर्जर सङ्घशक्ते!
एतच्चराचरगतिस्त्वमनद्य तत्त्वा,
ऐक्यञ्च मानविकतामव चास्मदीयाम् ।।३।।

– सबको शान्ति देनेवाली और पापों को हरण करनेवाली नगाधिराज हिमालय की सुपुत्रि! शिव, विष्णु, सूर्य एवं ब्रह्मादि देवों की सम्मिलित शक्ति! तुम्हीं इस चराचर जगत् की अनादि तत्त्व हो। तुम हमारी एकता और मनुष्यता की रक्षा करो।

ओंकारसम्विदमृते सुरगर्वहर्त्रि,
औदार्यदे! वयमुमे! प्रणमाम भक्त्या ।
अन्त:स्थितेऽम्ब! परिपाहि जगन्नियन्त्रि!
अज्ञानदानविकतां हर चास्मदीयाम् ।।४।।

– प्रणवस्वरूप ज्ञानामृतमयी (यक्ष रूप धारण करके) देवताओं के विजय अभिमान को चूर्ण करनेवाली औदार्यमूर्ति उमे! हम तुम्हारा भक्तिपूर्वक नमन करते हैं। सबके अन्त:करण में विराजनेवाली समस्त भूमण्डल पर शासन करनेवाली अम्बिके! तुम हमारे अज्ञान रूपी दानवता का हरण करो।

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:

आध्यात्मिक-प्रश्नोत्तरी

(विवेक-ज्योति के प्रारम्भिक वर्षों में प्रकाशित पाठकों के प्रश्न तथा तत्कालीन सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी के उत्तर। – सं.)

५१. प्रश्न – भय की भावना कैसे जीती जा सकती है?

उत्तर – सभी प्रकार के भय को दूर करने का एक ही उपाय है – वह है अपने आपको श्री भगवान के प्रति समर्पित कर देना। एक बार मैं हिमालय की तराई में था। वन्य पशुओं से बड़ा भय लगता था। भय की इस भावना से साधना में बड़ी बाधा उपस्थित होती थी। एक महात्मा मेरी अवस्था देखकर बोले, "सोचकर देखो, तुम्हें किसलिए इतना भय लगता है? तुम्हें मृत्यु का ही डर है न?" मैंने विचार कर देखा कि हाँ, प्रकारान्तर में मृत्यु-भय ही मुझे पीड़ित कर रहा है; यह सोचकर ही तो मुझे डर लगता है कि वन्य पशु मुझ पर आक्रमण करके कहीं मेरा खात्मा न कर दें। तब महात्माजी बोले, "देखो, यदि तुम्हारे भाग्य में वन्य पशु के हाथों मौत लिखी हो, तो कोई उसे नहीं टाल सकता। और यदि न लिखी हो, तो जंगल का कोई जानवर सामने आ जाने पर भी तुम्हारा बाल बाँका न कर सकेगा। मानते हो इस तर्क को?" तर्क तो बिल्कुल ठीक था। महात्माजी ने पुन: कहा, "अब कुछ दिन तुम इसी सत्य पर ध्यान करो।" मैंने वैसा ही किया। इससे ईश्वर की इच्छा के प्रति समर्पण-भाव दृढ़ हुआ और भय की भावना धीरे धीरे चली गयी।

अत: भगवान के प्रति समर्पण का भाव दृढ़ करें। भल-अनभल सबमें उन्हीं की इच्छा को अनुभव करने का प्रयास करें। अवश्य समर्पण-भाव सहसा नहीं आ जाएगा। इसके लिए अध्यवसायपूर्वक प्रयास करना होगा। जब यह भाव सधने लगेगा तो भय की भावना स्वयं तिरोहित होने लगेगी।

५२. प्रश्न – कहते हैं कि ईश्वर से लौकिक कुछ भी नहीं माँगना चाहिये। जब ईश्वर ही हमारे सर्वस्व हैं तब अपनी जरूरतों की पूर्ति हेतु उनसे प्रार्थना करने में क्या दोष है?

उत्तर – यह स्वाभाविक है कि मनुष्य अपने अभावों की पूर्ति हेतु भगवान से प्रार्थना करता है। आध्यात्मिक शास्त्र-ग्रन्थ जब कहते हैं कि ईश्वर से लौकिक कुछ न माँगो तो तात्पर्य यह है कि जब हम ईश्वर से कुछ माँगते हैं, तो हमारा ध्यान ईश्वर पर केन्द्रित न होकर अभीप्सित वस्तु पर केन्द्रित हो जाता है और इस प्रकार हम ईश्वर से दूर हट जाते हैं। यदि यह कहो कि ईश्वर से भक्ति-मुक्ति की माँग करना भी तब क्या दोषयुक्त न होगा, तो उत्तर यह है कि नहीं; क्योंकि यदि हम भक्ति-मुक्ति की याचना करें तो हमारा ध्यान भक्ति-मुक्ति पर केन्द्रित होगा और इस तरह हम ईश्वर का ही चिन्तन-मनन करेंगे। लौकिक वस्तुएँ मन को अपने में अटका लेती हैं और हमें आध्यात्मिक लक्ष्य से दूर कर देती हैं। इसीलिए अध्यात्म-पथ में ईश्वर से लौकिक वस्तुएँ माँगने का निषेध किया जाता है।

फिर, एक ही वस्तु की माँग होती तो बात कुछ समझ में भी आ सकती थी। पर माँग का यह सिलसिला कभी खत्म नहीं होता। हम सोचते हैं कि यह अभाव दूर हो जाए तो ईश्वर से हम कुछ न माँगेंगे। पर देखते हैं कि वह अभाव दूर होने पर कोई दूसरा अभाव हमें उसी तीव्रता के साथ सताने लगता है और हम पुन: ईश्वर के समक्ष याचक हो जाते हैं। दूसरी ओर, यदि अभाव दूर न हुआ तो ईश्वर पर आस्था डगमगाने लगती है।

अतएव यदि ईश्वर से कुछ माँगना ही है तो उन्हीं की याचना उनके चरणों में शुद्ध भक्ति और विवेक-विश्वास की याचना करो। जब कहते हो कि वे तुम्हारे सब कुछ हैं, तो उनसे माँगना क्यों? जो हमारा सर्वस्व होता है उससे हम कुछ माँगते नहीं, बल्कि उसे देखकर सुखी होते हैं। अतएव यदि ऐसी आस्था है कि ईश्वर हमारे सर्वस्व हैं तो अपना प्रेम उन्हें दो, अपना सब कुछ उन्हीं को लुटा दो। देखोगे जीवन आनन्द से भर जायेगा।

जब प्रह्लाद पर प्रसन्न हो श्री नृसिंह भगवान ने उन्हें वर माँगने को कहा, तो प्रह्लाद ने यही याचना की थी, "प्रभो! यदि आप मुझ पर इतने प्रसन्न हैं, तो कृपा करके यही वरदान दीजिए कि मुझे कुछ माँगने की चाह ही न हो!"

भगवान से यही माँग सर्वोत्तम है। पर ऐसे ऊँचे भाव में हमारी स्थिति धीरे धीरे ही हो पाती है।

५३. प्रश्न – मन बड़ा अस्थिर रहता है। कभी कोई बात अच्छी लगी, तो उस पर मन अधिक दिन टिक नहीं पाता। विचारों में स्थिरता कैसे आये?

उत्तर – मन स्वभाव से ही अस्थिर है। उसका बहाव अधोगामी होने के कारण वह जल्दी ही किसी आदर्श पर टिक नहीं पाता। आदर्श या ऊँचे विचारों का अर्थ होता है ऊँचाई, और मन ऊँचाई पर टिक नहीं पाता। किसी प्रवाह को ऊर्ध्व

गति देने के लिए काफी श्रम करना पड़ता है। पहले तो उसे वहीं रोकने के लिए बाँध बाँधना होता है। तत्पश्चात् उसे दिशा देनी होती है। मन के भावों के लिए बाँध बाँधना बड़ा कठिन होता है। कई बार जल-प्रवाह पूरे बाँध को बहाकर ले जाता है। बाँध को मज़बूत बनाने हेतु हमें उसकी नींव को मजबूत करना होता है। वैचारिक बाँध की नींव है – आदर्श के प्रति अनुराग। सर्वप्रथम हम एक आदर्श तय कर लें।

सम्भव है कि मन बारम्बार इस आदर्श से फिसल जाता हो, पर कोई हर्ज नहीं। हम पुन: पुन: मन से कहते रहें कि 'ऐ मन, भले ही तू आदर्श पर टिक नहीं पा रहा है, पर मैं तो इसी आदर्श को मानकर चलूँगा, तू कभी-न-कभी तो जरूर इस पर टिकेगा।' ऐसा निश्चय मन में रखें और आदर्श की उत्कृष्टता पर मनन कर उसके प्रति अनुराग बढ़ाएँ। इससे हमारे विचार धारणा में परिणत होंगे। अभ्यास से यह धारणा दृढ़ होती जाएगी। धारणा के दृढ़ होने से ही विचारों में स्थिरता आ पाती है।

५४. प्रश्न – कु. सरोजबाला पर आपके विचार?

उत्तर – मैंने कुमारी सरोजबाला को सर्वप्रथम इन्दौर में सुना था। तब उनकी आयु मात्र ९ वर्ष की थी और तभी से मैं उनसे प्रभावित हूँ। उनका जन्म १ नवम्बर १९५६ को हुआ है। उनकी अद्भुत वक्तृत्व-शक्ति एवं ज्ञान के दो स्पष्टीकरण हो सकते हैं – एक लौकिक और दूसरा अलौकिक।

लौकिक स्पष्टीकरण यह हो सकता है कि उन्हें सारे प्रवचन याद करा दिये गये हों। पर यह बात सम्भव नहीं मालूम पड़ती; क्योंकि जब सन् १९६५ में मैंने पहली बार उनका प्रवचन इन्दौर में सुना, तब उन्हें पढ़ना नहीं आता था। मेरे सम्पर्क में आने के पश्चात् मैं जोर देता रहा कि कम-से-कम हिन्दी पढ़ना-लिखना तो अवश्य सीख लेना चाहिए। अब वे पढ़ तो लेती हैं पर लिखने का अभ्यास आज भी नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि उन्हें सारे प्रवचन याद करा दिये गये हों, तो मुँह-जबानी बोल-बोलकर याद कराया गया होगा। और यदि को इसी सत्य मानें, तो भी यह स्वीकार करना होगा कि उनकी मेधा अति ही विलक्षण है कि उन्होंने सुन-सुनकर इतने सारे प्रवचन कण्ठस्थ कर लिए हैं। उनके संस्कृत के उद्धरण ही ग्रन्थ में सीमित न होकर गीता, भागवत, पुराण, उपनिषद्, स्मृतियाँ – इन सभी ग्रन्थों से लिये जाते हैं और विपुल मात्रा में। वैसे ही लगता है कि उन्हें समूचा 'मानस' याद है। फिर, उनके प्रवचन प्रसंग के अनुकूल होते हैं। मैंने अब तक उनके कोई ५०-५५ प्रवचन सुने हैं और हर प्रवचन प्रासंगिक और सन्दर्भपूर्ण होता है। उनके आधे घण्टा से लेकर सवा दो घण्टे तक की लम्बाईवाले प्रवचन सुने हैं। उनके हर प्रवचन में नवीनता होती है। फिर, गूढ़ वेदान्त-तत्त्वों का विवेचन इतना स्पष्ट व मार्मिक होता है कि अचरज होता है कि इतनी अल्प अवस्था में इन्हें वेदान्त के गूढ़ रहस्यों को समझने की बुद्धि कहाँ से आयी। वे अपने प्रवचनों में योग-वेदान्त के गूढ़ भागों को उठाकर जब उनका खुलासा करती हैं, तो उनकी भूरि भूरि प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। ऐसी अवस्था में, मैं नही मानता कि उन्हें प्रवचन कण्ठस्थ करा दिये गये हों।

अत: जो दूसरा अलौकिक स्पष्टीकरण है, वही शेष रह जाता है। इसके अनुसार, उनका ज्ञान, विवेक, बुद्धि और वक्तृत्व पिछले जन्म का अर्जन कहा जा सकता है। उन पर साक्षात् सरस्वती की कृपा है और ऐसा प्रतीत होता है कि पिछले जन्म का कोई बड़ा ज्ञानी और विद्वान् लोक-शिक्षा के लिए पुन: जन्म धारण कर आया हुआ है।

५५. प्रश्न – स्वामी विवेकानन्द ने कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों के समन्वय को साधनात्मक जीवन में आदर्श माना है। पर यह कैसे सम्भव है? क्या ये तीनों रास्ते सर्वथा अलग अलग नहीं हैं?

उत्तर – नहीं, तीनों को सर्वथा अलग नहीं माना जा सकता। जब हम कर्मयोग या भक्तियोग की बात करते हैं तो तात्पर्य यह है कि उस रास्ते पर अधिक जोर देते हैं जिस पर हमारी रुचि है।

मान लीजिए, आप भक्तियोग के अनुगामी हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि आप कर्म न करें। आप कर्म अवश्य करें, पर कर्मों को भगवान की उपासना बना लेना सीख लें। भक्ति पथ पर चलने का अर्थ यह नहीं कि आप विचार और विवेक को जीवन में स्थान ही न दें। यदि ऐसा करते है तो आपकी भक्ति मात्र भावुकता बन सकती है। अतएव भक्ति में सन्तुलन को बनाये रखने के लिए विचार आवश्यक है। फिर, यदि आप ज्ञान का सहारा न लें, तो ईश्वर का स्वरूप भी कैसे समझ में आयेगा? अगर वह समझ में न आया, तो ईश्वर के प्रति प्रीति भी कैसे पनप पायेगी? अतएव ईश्वर के प्रति भक्ति को पुष्ट करने के लिए कर्म और ज्ञान दोनों की आवश्यकता है। इसी प्रकार प्रत्येक मार्ग को समझ लें। अतएव एक की विशिष्टता में अन्य सबका समन्वय ही वांछित लक्ष्य होना चाहिए।

❖ (क्रमश:) ❖

श्री सदानन्द योगीन्द्र कृत

वेदान्त-सार (१०)

अध्याय – ५
आत्मज्ञान के साधन

एवंभूत-स्वस्वरूप-चैतन्य-साक्षात्कार-पर्यन्तं श्रवण-मनन-निदिध्यासन-समाधि-अनुष्ठानस्य अपेक्षितत्वात् ते अपि प्रदर्श्यन्ते ।।१८१।।

– उपरोक्त प्रकार के अपने चैतन्य स्वरूप का साक्षात्कार होने तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा समाधि के अभ्यास (आवृत्ति) की आवश्यकता होने के कारण, उनका भी निरूपण किया जाता है।

श्रवणं नाम षड्विध-लिङ्गैः अशेष-वेदान्तानाम् अद्वितीय-वस्तुनि तात्पर्य-अवधारणम् ।।१८२।।

– छह प्रकार के लिङ्गों[1] (लक्षणों या चिह्नों) के द्वारा सम्पूर्ण वेदान्त का तात्पर्य (लक्ष्य) अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) है – ऐसी धारणा (निर्धारण करना) – 'श्रवण' कहलाता है।

लिङ्गानि तु उपक्रम-उपसंहार-अभ्यास-अपूर्वता-फल-अर्थवाद-उपपत्ति-आख्यानि ।।१८३।।

– वे लिङ्ग इस प्रकार हैं – (१) उपक्रम (आरम्भ) और उपसंहार (समाप्ति), (२) अभ्यास (अनेक बार कथन), (३) अपूर्वता (नई बात का कथन) (४) फल, (५) अर्थवाद (प्रशंसा) और (६) उपपत्ति (निदर्शन, युक्ति)।

तदुक्तं - 'उपक्रम-उपसंहारौ-अभ्यासो-अपूर्वता फलम् । अर्थवाद-उपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये'।।१८४।।

– कहा भी है – "(उपदेश के) तात्पर्य का निर्धारण करने के लिये – उपक्रम-उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद तथा उपपत्ति – ये लिङ्ग हैं।

(तत्र) प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य अर्थस्य तद्-आदि-अन्तयोः उपपादनम् उपक्रम-उपसंहारौ । यथा छान्दोग्ये षष्ठ-अध्याये प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य अद्वितीय-वस्तुन 'एकम्-एव-अद्वितीयम्' (छा. ६/२/१) इति आदौ 'ऐतद्-आत्म्यम्-इदं सर्वम्' (छा. ६/८/७) इति अन्ते च प्रतिपादनम् ।।१८५।।

– प्रकरण में प्रतिपाद्य विषयवस्तु का प्रकरण के आदि और अन्त में प्रतिपादन करना – 'उपक्रमोपसंहार' (नामक लिङ्ग) कहलाता है। उदाहरणार्थ – छान्दोग्य उपनिषद् के छठें अध्याय में उस प्रकरण के प्रतिपाद्य वस्तु का अध्याय के आरम्भ में "द्वितीय से रहित एक है" कहकर, और अन्त में भी "यह सब कुछ आत्मा ही है" – के रूप में उसी 'अद्वितीय वस्तु' (ब्रह्म) का प्रतिपादन किया गया है।

प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य वस्तुनः तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनम् अभ्यासः । यथा तत्रैव अद्वितीय-वस्तुनि मध्ये तत्त्वमसि इति नवकृत्वः प्रतिपादनम् ।।१८६।।

– प्रकरण के प्रतिपाद्य (विषय) का प्रकरण के अन्दर बारम्बार प्रतिपादन 'अभ्यास' कहलाता है। उदारणार्थ – वहीं (पूर्वोक्त अध्याय में) 'तत्त्वमसि' के रूप में नौ बार उस 'अद्वैत वस्तु' (ब्रह्म) का प्रतिपादन किया गया है।

प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य अद्वितीय-वस्तुनः प्रमाणान्तर-अविषयीकरणम् अपूर्वता । यथा तत्रैव अद्वितीय-वस्तुनो मानान्तर-अविषयीकरणम् ।।१८७।।

– प्रकरण के प्रतिपाद्य (विषय) को (आगम के अतिरिक्त) किसी अन्य प्रमाण का विषय न होना (के द्वारा अनुपलब्धता) 'अपूर्वता' कहलाता है। उदाहरणार्थ – पूर्वोक्त (छान्दोग्य उपनिषद् के छठें) अध्याय में ही उस 'अद्वैत वस्तु' (ब्रह्म) का किसी अन्य प्रमाण का विषय न होना।

फलं तु प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य आत्मज्ञानस्य तद्-अनुष्ठानस्य वा तत्र तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम् । यथा तत्र 'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावद्-एव चिरं यावत्-न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये' (छा. ६/१४/२) इति अद्वितीय-वस्तु-ज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनम् श्रूयते ।।१८८।।

– प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय (आत्मज्ञान) या उसके अनुष्ठान (साधन) के विभिन्न स्थानों में उल्लेखित प्रयोजन को 'फल' कहते हैं। यथा – पूर्वोक्त अध्याय में ही – "आचार्यवान व्यक्ति ही (ब्रह्म को) जानता है, उसकी मोक्ष-प्राप्ति में उतनी ही देर है, जब तक कि वह देहबन्धन से नहीं छूटता। उसके बाद वह ब्रह्म से एक हो जाता है।" – यहाँ अद्वय वस्तु (ब्रह्म) के ज्ञान का प्रयोजन 'ब्रह्मप्राप्ति' बताया गया है।

प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनम् अर्थवादः । यथा तत्रैव 'उत तम् आदेशम् अप्राक्ष्यो येन अश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतम् अविज्ञातं विज्ञातम्' (छा. ६/१/३) इति अद्वितीय-वस्तु-प्रशंसनम् ।।१८९।।

– प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय (ब्रह्म) की विभिन्न स्थानों में प्रशंसा को 'अर्थवाद' कहते है। उसी प्रकरण में आचार्य शिष्य से कहते हैं – "तुमने उस उपदेश के बारे में पूछा है, जिसके सुनने से अश्रुत भी श्रुत हो जाता है, अचिंत्य वस्तु भी सोचने

१. लिङ्ग – छिपे हुए अर्थ को प्रकट करनेवाला।

में आ जाती है, अज्ञात वस्तु भी जानने में आ जाती है।" इस प्रकार अद्वय वस्तु (ब्रह्म) की प्रशंसा की गयी है।

प्रकरण-प्रतिपाद्य-अर्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्तिः उपपत्तिः। यथा तत्र 'यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिका इति एव सत्यम्' (६/१/४) इत्यादौ अद्वितीय-वस्तु-साधने विकारस्य वाचारम्भण-मात्रत्वे युक्तिः श्रूयते ।।१९०।।

– प्रकरण के प्रतिपाद्य (विषय) को सिद्ध करने के लिए दी जानेवाली विभिन्न प्रकार की युक्तियों को 'उपपत्ति' कहते हैं। उसी प्रकरण में आचार्य शिष्य से कहते हैं – "हे सौम्य, जैसे मिट्टी के एक पिण्ड (लौंदे) को जान लेने पर मिट्टी से बने (घट आदि) समस्त पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, उसके प्रत्येक विकार (रूप, आकार) वाणी का प्रयास मात्र है, (वस्तुतः) केवल मिट्टी ही सत्य है।" आदि (श्रुतियों) में अद्वय (ब्रह्म) वस्तु के प्रतिपादन में विकार (विभिन्न रूपों) को वाणी का प्रयास मात्र होने की युक्ति दी गयी है।

मनन तथा निदिध्यासन (ध्यान)

मननं तु श्रुतस्य अद्वितीय-वस्तुनो वेदान्त-अनुगुण-युक्तिभिः अनवरतम्-अनुचिन्तनम् ।।१९१।।

– वेदान्त के अनुकूल युक्तियों के द्वारा, (आचार्य से) सुनी हुई अद्वय (ब्रह्म) वस्तु का निरन्तर अनुचिन्तन करने को 'मनन' कहते हैं।

विजातीय-देहादि-प्रत्यय-रहित-अद्वितीय-वस्तु-सजातीय-प्रत्यय-प्रवाहो निदिध्यासनम् ।।१९२।।

– अद्वय ब्रह्म वस्तु के विजातीय (विपरीत) देह (मन) आदि की वृत्तियों से रहित, उस (ब्रह्म) के सजातीय (समान) वृत्तियों के प्रवाह को 'निदिध्यासन' कहते हैं।

समाधि का स्वरूप और भेद

समाधिः द्विविधः सविकल्पको निर्विकल्पकः च इति ।।१९३।।

– समाधि के दो प्रकार हैं – सविकल्प तथा निर्विकल्प।

तत्र सविकल्पको नाम ज्ञातृ-ज्ञान-आदि-विकल्प-लयान्-अपेक्षया अद्वितीय-वस्तुनि तदाकार-आकारितायाः चित्तवृत्तेः अवस्थानम् ।।१९४।।

– सविकल्प समाधि वह है, जिसमें ज्ञाता-ज्ञान आदि (त्रिपुटी) विकल्पों के लय हुए बिना ही चित्तवृत्तियाँ अद्वय (ब्रह्म) वस्तु मे तदाकार-आकारित होकर अवस्थान करती हैं। (इसे सम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं।)

तदा मृन्मय-गज-आदि-भाने अपि मृद्-भानवत् द्वैतभाने अपि अद्वैतं वस्तु भासते ।।१९५।।

– जैसे मिट्टी के हाथी आदि (नाम-रूप) का बोध रहने के बावजूद, (उसके उपादान) मिट्टी का बोध होता रहता है, वैसे ही इस अवस्था में नानात्व-बोध के रहते हुए भी अद्वय (ब्रह्म) वस्तु का बोध होता रहता है।

तदुक्तं – 'दृशि-स्वरूपं गगनोपमं परं, सकृद्-विभातं तु अजम्-एकम्-अक्षरम्। अलेपकं सर्वगतं यद्-अद्वयं, तद्-एव च अहं सततं विमुक्तम्-ओम् ।।' इति (उपदेश-साहस्री ७३/१०/१) ।।१९६।।

– कहा भी गया है – "जो द्रष्टास्वरूप, आकाशवत्, परम (सर्वोपरि), सदाप्रकाश (चिर-ज्योतिर्मय), अजन्मा, एक, अक्षर, निर्लिप्त, सर्वव्यापी, अद्वितीय, नित्यमुक्त (वस्तु) है, वही मै हूँ।"

निर्विकल्पकः तु ज्ञातृ-ज्ञान-आदि-विकल्प-लय-अपेक्षया अद्वितीय-वस्तुनि तद्-आकार-आकारितायाः चित्तवृत्तेः अतितराम् एकीभावेन अवस्थानम् ।।१९७।।

– निर्विकल्प समाधि वह अवस्था है, जिसमें ज्ञाता, ज्ञान आदि के विकल्प (भेद) का लय (नाश) होकर ('तत्') चित्तवृत्ति अद्वैत (ब्रह्म) वस्तु में तदाकार-आकारित होकर अत्यन्त एकत्व भाव से स्थित रहती है।

तदा तु जलाकार-आकारित-लवण-अनवभासेन जलमात्र-अवभासवत् अद्वितीय-वस्तु-आकार-आकारित-चित्तवृत्ति-अनवभासेन अद्वितीय-वस्तुमात्रम् अवभासते।।१९८।।

– तब जिस प्रकार जलाकार में बना नमक अदृश्य होकर केवल जलमात्र ही भासित होता है, उसी प्रकार अद्वय ब्रह्म वस्तु में तदाकार-आकारित चित्तवृत्ति लुप्त होकर, केवल अद्वय ब्रह्म वस्तु ही प्रकाशित होता रहता है।

समाधि और निद्रा

ततः च अस्य सुषुप्तेः च अभेदशङ्का न भवति। उभयत्र वृत्ति-अभाने समाने अपि तत्सद्भाव-असद्भाव-मात्रेण अनयोः भेद-उपपत्तेः ।।१९९।।

– अतएव, इस (निर्विकल्प समाधि) के सुषुप्ति (गहरी निद्रा) के साथ अभिन्नता की शंका नही है, क्योंकि यद्यपि इन दोनों में समान रूप से चित्तवृत्ति का बोध नहीं होता, तथापि (निर्विकल्प में) उसका अस्तित्व और (सुषुप्ति में) उसका अभाव – इतना ही इन दोनो के बीच भेद है।

❖ (क्रमशः) ❖

द्वैतवाद क्या है?

भैरवदत्त उपाध्याय

अन्तिम सत् एक है या दो, या दो से भी अधिक। जो एक कहते हैं, उनके सिद्धान्त को एकत्ववाद या अद्वैतवाद; जो दो कहते हैं, उनके सिद्धान्त को द्वैतवाद और जो दो से अधिक मानते हैं, उसे बहुत्ववाद कहते हैं। भारतीय द्वैतवाद अपने समस्त सिद्धान्तों को श्रुति-स्मृति और ब्रह्मसूत्र के आधार पर प्रतिपादित करता है। ब्रह्म, जीव, और जगत् की अलग-अलग सत्ता मानता है। द्वैतवाद का प्रतिपादन सांख्य तथा न्याय दर्शन करते है। उनकी दृष्टि मे जड़ तथा चेतन दो भिन्न तत्त्व हैं। दोनों ही सत् है। सांख्य के अनुसार असत् से सत् की उत्पत्ति सम्भव नही है, जो अभावरूप है, उसका भावरूप में परिवर्तन असम्भव है। जड़-प्रकृति दृश्य है और चेतन-पुरुष द्रष्टा है। न्याय-दर्शन की मान्यता है कि परमात्मा संसार का निमित्त कारण है। उसकी स्थिति कुम्भकार की है, जो मिट्टी का निर्माण नहीं करता, अपितु मिट्टी को ही घड़े का रूप दे देता है। स्वर्णकार स्वर्ण नहीं बनाता, स्वर्ण के केवल आभूषण बनाता है। स्वर्ण तो पूर्व से ही विद्यमान है। जड़ तत्त्व अणु रूप में शाश्वत है।

वैष्णव आचार्यों में मध्वाचार्य ने द्वैतवाद का प्रबल समर्थन कर उसे व्यवस्थित आधार प्रदान किया है। उन्होंने अद्वैतवाद का खण्डन करते हुए कहा कि संसार मिथ्या नही है, जीव ब्रह्म का आभास नहीं है और एकमात्र सत्य ब्रह्म ही नही है। उन्होंने पाँच नित्य भेदों को सिद्ध किया है –

१. ईश्वर का जीव से नित्य भेद है।

२. ईश्वर का जड़ पदार्थ से नित्य भेद है।

३. जीव का जड़ पदार्थ से नित्य भेद है।

४. एक जीव का दूसरे जीव से नित्य भेद है।

५. एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से नित्य भेद है।

मध्वाचार्य ने उन वाक्यों की भेदवादी व्याख्या की, जिनसे अभेदवादी मत की पुष्टि होती है। **'तत्त्वमसि'** – 'वह तू है' स्पष्टतः अद्वैतपरक है, पर मध्वाचार्य इसका अर्थ लेते हैं – **'तदीयः (तस्य) असि'** – 'तू उसका है।' अर्थात् तुझमें और उसमें भेद है। **'अयमात्मा ब्रह्म'** – (**अयं जीवात्मा ब्रह्म – वर्द्धनशीलः अस्ति**) – 'यह आत्मा बढ़ती रहती है।' **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'** – 'ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म के समान न कि ब्रह्म हो जाता है।' द्वैतभाव की पुष्टि करने वाला मुण्डकोपनिषद का मन्त्र है –

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वादवत्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।

– 'एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सखाभाव रखनेवाले (जीवात्मा एवं परमात्मा रूपी) दो पक्षी एक ही वृक्ष (शरीर या प्रकृति) का आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनों में से एक तो उस वृक्ष के कर्मरूप फलो का स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है, किन्तु दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है।'

जीवात्मा और परमात्मा दोनों में शाश्वत भेद है। इसलिए जीव को सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य प्रकार की मुक्ति मिलती है। वह इन अवस्थाओं में भी भोग प्राप्त करता है।

पाश्चात्य दर्शन मे द्वैतवाद का प्रतिपादन है। प्राचीन यूनान के प्लेटो ने दो परम तत्त्व माने थे – शुभ का प्रत्यय (Idea of good) और पुद्‌गल (Matter)। शुभ सार्वभौम है. ईश्वर है, स्वस्थ और चेतन है। दूसरी ओर पुद्‌गल अचेतन, अशुभ और भौतिक है। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के पिता रेने देकार्ते ने भी जड़ और चेतन को भिन्न तत्त्व माना है और दोनों को सत् स्वीकार किया है। उसका मत है कि जड़ और चेतन दोनों स्वतन्त्र है। जड़ का गुण है फैलाव, विस्तार और विभाजनशीलता; जबकि चेतन चेतनता और विचार से युक्त है। द्वैतवाद की पुष्टि में तर्क है –

१. सामान्य भाषा से द्वैत की अभिव्यक्ति होती है।

२. दैनिक अनुभव में जड़ और चेतन दो तत्त्वो की अनुभूति होती है।

३. जड़ और चेतन का एक दूसरे में परिवर्तन नहीं हो सकता।

वस्तुतः द्वैतवाद जीवन की समस्या का एक उत्तम समाधान नहीं है। व्यावहारिक जीवन में तो हम द्वित्व या बहुत्व का दर्शन करते हैं, किन्तु उससे हमें सन्तोष नही मिलता। जब तक द्वित्व में एकत्व की स्थापना नही करते. तब तक हम सामाजिक एवं मानसिक तनावों से मुक्ति नही पा सकते। ❑

पूना में श्रीरामकृष्ण-मन्दिर की स्थापना

महाराष्ट्र की सांस्कृतिक राजधानी पूना एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर है। प्रागैतिहासिक युग में यह दण्डकारण्य के अन्तर्गत आता था। महाराष्ट्र के रामकृष्ण संघ के तीन केन्द्रों में से एक पूना नगर में स्थित है; अन्य दो मुम्बई तथा नागपुर में हैं। सिंहगढ़, लोकमान्य नगर और सरसबाग - इन तीनों ओर से रास्ते आकर पूना में जहाँ मिलते हैं, प्रायः उनके संगमस्थल पर ही विठ्ठलवाड़ी रोड पर छह एकड़ भूमि में रामकृष्ण मठ स्थित है। मठ के पीछे एक पहाड़ है। पहाड़ तथा आश्रम के बीच में एक बड़ा नाला बहता है।

भक्तों के द्वारा प्रारम्भ किया गया यह आश्रम १९८४ ई. में बेलूड़ मठ द्वारा अधिगृहीत किया गया। तब से यहाँ एक छोटे-से मन्दिर में श्रीरामकृष्ण देव की पूजा सम्पन्न होती आ रही थी। १९९९ ई. के दिसम्बर से एक नवीन सार्वजनिक मन्दिर का निर्माण शुरू हुआ, जो २००२ ई. के अप्रैल में बनकर पूरा हुआ। मन्दिर के गर्भगृह में श्रीरामकृष्ण की संगमरमर-मूर्ति स्थापित की गई है। गर्भगृह से जुड़े प्रार्थना-गृह में कोई ४०० लोग एक साथ बैठकर प्रार्थना कर सकते हैं। इसके २४ शिखरों में से सर्वोच्च शिखर लगभग १८ मीटर ऊँचा है। गर्भ-मन्दिर तथा प्रार्थना-गृह के बीच दोनों ओर निर्मित आलों में माँ सारदा और स्वामी विवेकानन्द के चित्र स्थापित हैं। मन्दिर के मुख्य द्वार से नीचे उतरते समय सीढ़ियों के समाप्त होते ही, बुद्धकालीन शिल्प पर आधारित तोरण बने हैं।

१९ अप्रैल के दिन इस मन्दिर की स्थापना-महोत्सव प्रारम्भ हुआ। प्रातः ८ बजे से शास्त्रीय विधि से बनी यज्ञशाला में विशेषज्ञ पण्डितों ने वास्तु-याग किया। और 'सभा-मण्डप' में 'सार्वजनिक मन्दिर की आवश्यकता' विषय पर स्वामी गौतमानन्द जी, स्वामी सत्यरूपानन्द जी और स्वामी निखिलात्मानन्द जी के भाषण हुए। शाम ७ बजे श्री प्रमोद रानाडे ने रामायण-गान प्रस्तुत किया।

२० अप्रैल को प्रातः ८ बजे यज्ञशाला में रुद्रयाग और चण्डी सप्तशती होम हुआ। ९ बजे स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी, स्वामी जितात्मानन्द जी, आचार्य किशोर व्यास और डॉ. ओमप्रकाश वर्मा ने 'वर्तमान युग और स्वामी विवेकानन्द' विषय पर अपने विचार रखे। दिन भर विभिन्न सांस्कृतिक कार्यक्रमों के पश्चात् शाम ५ बजे मन्दिर-स्थापना के उपलक्ष्य में रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी गहनानन्द जी महाराज ने विशेष स्मारिका विमोचित की। फिर 'ज्ञानेश्वरी की शिक्षा और भागवत-धर्म' पर स्वामी गहनानन्द जी महाराज, डॉ. एस.आर. तड़गट्टी और प्रो. मुरलीधर सायण के भाषण हुए। संध्या ७ बजे पं. रनू मजूमदार का बाँसुरी-वादन हुआ।

२१ अप्रैल को रामकृष्ण मठ व मिशन के परमाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज ने मन्दिर का उद्घाटन किया। भोर पाँच बजे पुराने मन्दिर में ठाकुर की मंगल-आरती हुई। तत्पश्चात् प्रातः साढ़े ६ बजे साधु-ब्रह्मचारियों ने वैदिक-पाठ और भजन-कीर्तन के साथ मंगल-कलश, पवित्र-अवशेष, श्री ठाकुर, श्री माँ और स्वामीजी के चित्रपटों को लेकर शोभायात्रा प्रारम्भ की। भारत के विभिन्न प्रान्तों से आए भक्त नर-नारियों का दल मन्दिर के चारों ओर से घेरा बनाकर उपस्थित था। जयजयकार, वेदपाठ व भजन-कीर्तन के साथ शोभायात्रा ने तीन बार नये मन्दिर की प्रदक्षिणा की। तदुपरान्त पूज्यपाद अध्यक्ष महाराज ने मन्दिर के मुख्य-द्वार को खोलकर भीतर प्रवेश किया और गर्भगृह में स्थापित श्रीरामकृष्ण देव के विग्रह को अर्घ्य प्रदान किया। फिर अन्य साधु-ब्रह्मचारियों ने भी प्रभु के पादपद्मों में अर्घ्य प्रदान किया। मन्दिर में काफी काल तक नृत्य व भजन-कीर्तन होता रहा। इसी दिन यज्ञशाला में सौरयाग और पूर्णाहुति आदि हुआ। प्रातः ८ बजे से नवनिर्मित मन्दिर में श्री ठाकुर की विशेष पूजा, हवन और रामनाम-संकीर्तन सम्पन्न हुए। प्रातः ९ बजे मन्दिर के प्रधान शिखर के ऊपर विशेष रूप से मांगलिक अनुष्ठान 'कलशारोहण' सम्पन्न हुआ। पूज्यपाद अध्यक्ष महाराज ने पूर्वाह्न में ११ बजे मन्दिर के तलघर में निर्मित 'शिवानन्द स्मृति-कक्ष' का उद्घाटन किया।

दिन भर विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक अनुष्ठान होते रहे। पूज्य अध्यक्ष महाराज के आशीर्वचन के साथ शाम को पाँच बजे आयोजित सभा प्रारम्भ हुई। डाक विभाग द्वारा विशेष डाक-टिकट एवं 'प्रथम दिवस आवरण' का विमोचन हुआ। सभा के प्रधान वक्ता रामकृष्ण संघ के महासचिव स्वामी स्मरणानन्द महाराज ने अपने व्याख्यान में श्रीरामकृष्ण के जीवन पर विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला। मुख्य अतिथि केन्द्रीय मन्त्री श्री अनन्त कुमार ने कहा कि 'मैं भारतीय राजनीति के कुरुक्षेत्र से सार्वभौमिक श्रीरामकृष्ण-मन्दिर के धर्मक्षेत्र में उपस्थित हुआ हूँ।' सभा-समाप्त होने के बाद मन्दिर में सन्ध्या आरती सम्पन्न हुई। रात के साढ़े सात बजे सभामञ्च पर पण्डित राजन और साजन मिश्र ने शास्त्रीय संगीत प्रस्तुत किया।

२२, २३, २४ और २५ अप्रैल को सम्पन्न विभिन्न सांस्कृतिक कार्यक्रमों के विशिष्ट वक्ताओं में रामकृष्ण संघ के स्वामी प्रभानन्द जी, सर्वोच्च न्यायालय के सेवानिवृत्त प्रधान न्यायाधीश श्री पी.एन. भगवती, बँगलोर के मैनेजमेंट इन्स्टीच्यूट के अध्यक्ष एस.एम. दत्त, विख्यात वैज्ञानिक डॉ. राजा रामन्ना और पूना विद्यापीठ के सेवानिवृत उपकुलपति डॉ. वि.जे. भिड़े आदि प्रमुख थे। ❖❖❖

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम
विज्ञानानन्द मार्ग, मुट्ठीगज,
इलाहाबाद - २११००३ (उ.प्र.)
दूरभाष : ४१३३६९

निवेदन

प्रिय बन्धु,

रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, इलाहाबाद की स्थापना पूज्यपाद स्वामी विज्ञानानन्द महाराज (१८६८-१९३८) द्वारा विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द की इच्छानुसार हुई थी। तब से आज तक यह आश्रम जनता जनार्दन की सेवा बिना किसी धर्म, जाति और वर्ण के भेदभाव का विचार किये करता आ रहा है।

धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक गतिविधियों के अतिरिक्त यह सेवाश्रम एक सार्वजनिक ग्रंथालय तथा वाचनालय का संचालन कर रहा है। ग्रंथालय में २८,५०० पुस्तकें हैं, जिनमें धर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य के ग्रन्थों के साथ विज्ञान, कला, वाणिज्य, चिकित्सा तथा अभियांत्रिक निकाय की पाठ्य पुस्तकें भी शामिल हैं। वाचनालय में ३७ पत्रिकाएँ, १४ दैनिक समाचार पत्र आते हैं। ग्रन्थालय की सदस्य सख्या ७४४ है। वाचनालय का प्रतिदिन प्रायः ७० व्यक्ति लाभ लेते हैं।

यह सेवाश्रम एक चिकित्सा केन्द्र का भी सचालन कर रहा है, जिसमें सामान्य चिकित्सा के साथ ही नेत्र रोग, दन्त रोग, चर्म रोग, बाल रोग, स्त्री तथा प्रसूति रोग, अस्थि रोग तथा नाक-कान-गला रोग के विशेषज्ञ अपनी सेवाएँ प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ होमियोपैथिक, ई.सी.जी., अल्ट्रासाउन्ड, पैथालॉजी, फिजियोथेरेपी तथा बच्चों के टीकाकरण आदि की सुविधाएँ भी उपलब्ध हैं। प्रतिदिन प्रायः ३०० मरीज इस चिकित्सा सुविधा का लाभ उठाते हैं।

हमारी आवश्यकताएँ : चिकित्सा केन्द्र में एक बड़ी आवश्यकता एक आपरेशन थियेटर की तथा २० शय्या से युक्त इनडोर वार्ड्स की तथा एक एक्स-रे मशीन की है। इसके लिये वर्तमान चिकित्सा केन्द्र के ऊपर एक मंजिल और ले जाने की है। इसी प्रकार ग्रन्थालय और वाचनालय में छात्र-छात्राओं की बढ़ती संख्या को देखते हुए उसकी भी विस्तार की बड़ी आवश्यकता अनुभव की जा रही है। ग्रन्थालय तथा वाचनालय का विस्तार पीछे की ओर किया जायेगा तथा उसके ऊपर वर्तमान सभागृह का विस्तार युवा-सम्मेलन, आध्यात्मिक शिविर आदि के आयोजन की सुविधा प्रदान करेगा।

अनुमानित व्यय :

१. ग्रथालय तथा सभागृह के विस्तार पर	१८ लाख रूपये
२. चिकित्सा केन्द्र में आपरेशन थियेटर, पुरुष तथा महिला वार्ड और एक्स-रे मशीन पर	२२ लाख रूपये

इस प्रकार कुल ४० लाख रूपये की आवश्यकता है। आपसे हमारा अनुरोध है कि इस पुनीत कार्य में दान प्रदान करें जिससे यह सेवाश्रम अपनी सेवा का अधिकाधिक विस्तार कर सके। सेवाश्रम को दिये गये दान आयकर अधिनियम १९६१ की धारा ८० जी के अन्तर्गत आयकर से मुक्त हैं। आप अपना दान चेक/ड्राफ्ट द्वारा 'रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम' के नाम पर भेजने का कष्ट करें।

आप सबकी प्रभु से मगल कामना करते हुए,

प्रभु सेवा में आपका

स्वामी निखिलात्मानन्द
सचिव